सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म
का प्रतिपादक मासिक

वर्ष–52 : अंक–2
मई 2019

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाई-283202 (आगरा) उ.प्र

अमृतकण

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दंडेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख:।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/3)

अर्थात् तुम्हीं स्त्री हो, पुरुष भी तुम्हीं हो, तुम कुमार, तुम कुमारी भी हो और तुम्हीं दण्ड का सहारा लिये हुए वृद्ध हो, विश्व में सर्वत्र तुम्हीं हो।

◆ ◆ ◆

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:।।

(गीता 6/29)

अर्थात् सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।

◆ ◆ ◆

यद्यत् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।।

(गीता 10/41)

मनुष्यों में जहाँ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है, समझो वहाँ मैं वर्तमान हूँ, मुझसे ही इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है।

◆ ◆ ◆

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्ति: पृष्टं गिरेरिव। उर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वस्मृतमस्मि। दविणों सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षित:।

(तै.उपनिषद् 1/10)

मैं (संसार रूप) वृक्ष को हिलाने वाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वत के सदृश है। मैं वह हूँ जिसके ज्ञान का पवित्र (प्रकाश) ऊँचा उदय हुआ है, मानों सूर्य में है। मैं सुमेधा हूँ, अमृत हूँ, क्षीण न होने वाला।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

वर्ष : 52
अंक : 2

मई
2019

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्यौमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

ॐ आप्यायन्तु ममांगानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोतमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् , अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु।

(केनोपनिषद)

हे परमात्मन् ! मेरे सारे अंग, वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज–सब पुष्टि एवं वृद्धि को प्राप्त हों। उपनिषदों में सर्वरूप ब्रह्म का जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी परित्याग न करे। मुझे सदा अपनाये रखे। मेरे साथ ब्रह्म का और ब्रह्म के साथ मेरा नित्य सम्बंध बना रहे। उपनिषदों में जिन धर्मों का प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म, उपनिषदों के एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मा में निरन्तर लगे हुए मुझ साधक में सदा प्रकाशित रहें, मुझ में नित्य निरन्तर बने रहें और मेरे त्रिविध तापों की निवृत्ति हो।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

संस्थापक :
योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष
एवं गुरु भाई–बहिन

इस अंक में ...

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज 3
2. सम्पादकीय 9
3. श्रीमद्भागवत में योग–परिचर्या– डॉ. विजय सिंह 12
4. कुराना गाँव में योग–प्रचार– अशोक शर्मा 15
5. ध्यान क्या और क्यों– श्री विष्णु प्रसाद व्यास 17
6. योगक्षेमं वहाम्यहम्– श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा 18
7. योग चित्त और चरित्र– श्री नेमीचन्द रघुवंशी 22
8. गुरु–शिष्य सम्बन्ध– स्व. श्री साने गुरु 26
9. शिव तत्त्व की प्राप्ति व निर्बीज समाधि में प्रवेश– श्री जगदीश नारायण 29
10. श्री प्रभुजी का प्राकट्य दिवस राम नवमी योग महामेला के रूप में धूम–धाम से सम्पन्न 40

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

विशेष लेख

अष्ट विधि प्राणायाम

योग–योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने अपने पिछले लेख में प्राणायाम के परिणाम को बतलाने का प्रयास किया था। आशा है कि प्रत्येक पाठक ने उस विषय को पूरी तरह से अपने मन में धारण कर लिया होगा। प्राणायाम के वेत्ता आचार्यों ने अपने अनुभव के आधार पर विविध प्रकार के कुम्भकों का उल्लेख किया है। वे सभी एक कुम्भक के ही अनेक भेद हैं। प्राणायाम करने के साथ–साथ हर व्यक्ति को तीनों प्रकार के बन्धों का ज्ञान हो जाना भी बहुत आवश्यक है जिनका हम पिछले लेखों में वर्णन कर चुके हैं। जो लोग प्राणायाम करते समय तीन बन्धों को कायदे के अनुसार लगाते हैं उनको ही प्राणायाम सिद्ध हो पाता है। 'हठयोग प्रदीपिका' के रचयिता योगी आत्माराम ने बंध लगाने की विधि का वर्णन निम्नांकित श्लोकों में किया है–

पूरकांते तु कर्त्तव्यो, बंधो जालंधराभिधः।
कुम्भकान्ते रेचकादौ, कर्त्तव्यस्तूड्डियानकः॥

अर्थात् पूरक करने के बाद जालन्धर बंध को करना चाहिए और कुम्भक के बाद रेचक से पहले उड्डियान बंध लगाना चाहिए।

अधस्तात्कुंचने नाशु, कंठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिम तानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

उड्डियान बंध के साथ ही मूल बंध लगा लेना चाहिए। मूल बंध और जलंधर बंध लग जाने के बाद जब मध्य भाग में पश्चिमोत्तान अर्थात् उड्डियान लगाया जाता है तब प्राण वायु ब्रह्म नाड़ी में प्रवेश करता है। इन तीनों बन्धों के बाकायदा अभ्यास कर लेने पर योगी युवा बना रहता है। हठयोग के आचार्यों ने कुम्भक प्राणायाम के आठ विशेष भेद कहे हैं। उनके नाम इस प्रकार है–

सूर्य भेदन मुज्जायी, सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा, प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः॥

अर्थात् सूर्य भेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लावनी यह आठ प्रकार के कुम्भक कहे गये हैं इनमें से सूर्य भेदन का प्रकार हठयोग प्रदीपिका में इस

प्रकार कहा है–

सूर्य भेदन प्राणायाम

आसने सुखदे योगी, बद्ध्वा चैवासनं ततः।
दक्षनाड्या समाकृष्य, वहिस्थं पवनं शनैः।।
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत् पवनं शनैः।।

अर्थात् योगी को चाहिए कि सुखासन पर बैठ कर के दक्षिण नासा पुट से शनैः शनैः आवाज करते हुए नासा पुट से प्राण वायु का आकर्षण करे और कुम्भक करके अपनी धारणा शक्ति से शिर से लेकर पैर तक उस वायु को फैलाकर के रोके और यथा शक्ति कुम्भक का अभ्यास बढ़ा लेने के बाद शनैः शनैः नाम नासा पुट से आवाज करते हुए उस वायु को छोड़ दे। यही सूर्य–भेदन प्राणायाम कहलाता है। सूर्य भेदन प्राणायाम के जितने भी प्राणायाम किये जाये उपरोक्त विधि से करने चाहिए। इस प्राणायाम के करने से योगी के शरीर में अग्नि तत्व की वृद्धि होती है। वायु और कफ के रोगों का नाश होता है। रक्त के विकार, चर्मरोग, उदर विकार, कृमि रोग आदि–आदि सब वायु एवं वादी के रोग इस प्राणायाम के करने से अवश्य–अवश्य नष्ट हो जाते हैं।

कपाल शोधनं वातदोषघ्नं कृमि दोषहृत्।
पुनः पुनरिदं कार्यं, सूर्य भेदन् मुत्तमम्।।

अर्थात् यह सूर्य भेदन प्राणायाम कपाल शोधन वात दोष दूर करने वाला कृमि रोग हरने वाला है अतः इसे बार–बार करना चाहिए।

उज्जायी प्राणायाम

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम्।।
पूर्ववत्कुं भयेत्प्राणं रेचयेदिऽयाततः।
श्लेष्म दोषहरं कंठे, देहानल विवर्धनम्।।
नाडी जलोदरा धातु गत दोष विनाशनम्।
गच्छता तिष्ठता कार्य मुज्जायाख्यं तु कुम्भकम्।।

अर्थात् मुख को बन्द करके शनैः शनैः दोनों नासा पुटों से इस प्रकार से प्राणवायु का आकर्षण करे जिससे वह प्राण शब्द करता हुआ हृदय तक पहुँच पावे। इसका प्राणवायु हृदय से नीचे नहीं जाना चाहिए। रेचक में जितना भी हो सके प्राण को शनैः शनैः ही छोड़ना चाहिए।

इस प्राणायाम में मनुष्य जिस समय भी कुम्भक करना प्रारम्भ करे उस समय प्राणवायु को दोनों नासा–पुटों से खींच कर मुख में लाए। मुख से कंठ में फिर हृदय तक ले जाना चाहिए। फिर उसी प्रकार से रेचन में कंठ में फिर मुख में लाकर वाम नासा पुट से शनैः शनैः रेचन करना चाहिए।

उज्जायी प्राणायाम का फल

यह प्राणायाम भी कफ–दोष का निवारक उदर रोग मंदाग्नि आदि–आदि को हटाने वाला है, धातुगत जितने रोग हैं उन्हें और जलोदर आदि रोगों को नष्ट करता है। इस प्राणायाम का साधारण विधि से योगी चलते–फिरते भी अभ्यास कर सकता है।

सीत्कारी प्राणायाम

सीत्का कुर्यात्तथावक्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम्।
एवमभ्यास योगेन कामदेवो द्वितीयकः।।

अर्थात् सीत्कारी प्राणायाम करते हुए साधक को चाहिए अपनी जिह्वा को दांतों के बीच रख कर वायु को सीत्कार करते हुए अन्दर को खींचें। फिर शनैः शनैः दोनों नासा पुटों से रेचन कर दे। इस प्राणायाम को करने से साधक का सौन्दर्य अधिकाधिक बढ़ता है। और निरन्तर अभ्यास से कामदेव सम हो जाता है।

योगिनी चक्र सामान्यः सृष्टि संहार कारकः।
न क्षुधा न तृषा निद्रा, नैवालस्यं प्रजायते।।
भवेत्सत्वं च देहस्य सर्वोपद्रव वर्जितः।
अनेन विधिना सत्यं, योगीन्द्रो भूमिमंडले।।

अर्थात् इस प्राणायाम का अभ्यास करने वाला योगी योगिनी चक्र को वश में करके सृष्टि संहार करने वाला हो जाता है और उसके शरीर में क्षुधा, तृषा एवं आलस्य बिलकुल नहीं रहता है। इस प्राणायाम के अभ्यास से योगी के शरीर में उत्तरोत्तर बल बढ़ता है। और योगीराज सब प्रकार से ख्याति को प्राप्त करता है।

शीतली प्राणायाम

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्व वत्कुम्भ साधनम्।
शनकै र्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः।।

इस प्राणायाम में जिह्वा को काक चन्चु की तरह गोलमोड़कर वायु का आकर्षण करना चाहिए और पुनः उपरोक्त विधि के अनुसार कुम्भक करके शनैः शनैः दोनों नासा रंध्रों से

वायु को निकाल देना चाहिए। इसी को शीतली प्राणायाम कहते हैं–

शीतली प्राणायाम का फल

गुल्मप्ली हादिकान् रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहंति हि।।

शीतली प्राणायाम के करने से गुल्म, प्लीहा, ज्वर, पित्त, क्षुधा, तृषा और अनेक प्रकार के विषों का नाश करता है–

भस्त्रिका प्राणायाम

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्व पाप प्रणाशनम्।।
सम्यक पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत्।।
यथा लगति हृत्कंठे कपाल वधि सस्वनम्।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम्।।
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहाकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते।।

अर्थात् भस्त्रिका प्राणायाम के प्रारम्भ में साधक को चाहिए कि वह अपने जंघाओं में पाद तलों को स्थापित करके सभी प्रकार के पाप कर्मों के नाश करने वाले पद्मासन को लगाये। पद्मासन को भली प्रकार लगा करके गर्दन पेट आदि शरीर के सब अंगों को समभाग रख कर और मुख को बन्द करके नासिकारंध्र द्वारा प्राण वायु का रेचन करे। साधक ऐसा प्रयत्न करे कि वह प्राण वायु हृदय कंठ और कपाल पर्यन्त आवाज करती हुई हृदय कमल तक बार–बार जाय। इस प्रकार से एक नासिका रंध्र से पूरक करे और दूसरे से छोड़ दे। बार–बार वेग के साथ अभ्यास करे।

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत्।।
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकां मध्य तर्जनीभ्यां विना दृढ़।।
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम्।
वात पित्तश्लेष्महरं शरीराग्नि विवर्धनम्।।

अर्थात् शरीरस्थ पवन को इसी भस्त्रिका विधि से चालन करे। जब शरीर में थकावट

मालूम पड़े तब सूर्य नाड़ी से पूरक करे। जिस प्रकार पेट में वायु पूरण है। उसे सूर्य नाड़ी से करे। प्रयत्न के साथ अपनी मध्यमा और तर्जनी के बिना अवलम्ब के अभ्यास में लाये। इस प्रकार बार–बार कुम्भक करते हुए, इड़ा नाड़ी से पवन को छोड़ दे। यह भस्त्रिका प्राणायाम वात, कफ का नाश करने वाला शरीराग्नि को बढ़ाने वाला कुण्डलिनी शक्ति का बोधक हृदय के आवरण को दूर करने वाला है। हठाभ्यासी लोग इस भस्त्रिका प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करते हैं। उनके शरीर में रहने वाले पांचों प्राण वायु शनैः शनैः इकट्ठे होने लगते हैं और पांचों प्राण वायु के इकट्ठे होने पर उन सब की मिली हुई शक्ति कुण्डलिनी बोध के लिए अति लाभदायक होती है। शक्तिचालिनी मुद्रा बांधकर हठाभ्यासी लोग इसी प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी जागरण के लिए दृढ़तर अभ्यास किया करते हैं।

भ्रामरी प्राणायाम

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गीनादं, रेचकं मन्दमन्दम्।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदान्द लीला।।

भ्रामरी प्राणायाम के अन्दर ये विशेषता है कि ये भ्रमर के मानिन्द आवाज करते हुए वेग के साथ वायु का आकर्षण करे और यथा शक्ति कुम्भक करे और रेचन विधि से रेचन करे। ऐसा करने से नाद के प्रभाव से योगी को एक विशेष आनन्द आने लग जाता है। नाद का उत्पन्न होना लयता का एक उत्कृष्ट साधन है।

मूर्च्छा प्राणायाम

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा, जलंधरं शनैः।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येरयं मनो मूर्छा सुखप्रदा।।

मूर्च्छा कुम्भक के अन्दर जिस समय मनुष्य प्राणायाम की विधि से हृदय में प्राण को पूरक करे बाद दृढ़ता के साथ जालंधर बंध लगाकर रेचन कर दे। ऐसा करने से स्वभाव से ही मनोमूर्च्छा होने लगती है। और योगी का मन एकाग्र होने लगता है। इस कुम्भक को मूर्च्छा कुम्भक इसलिए कहा गया है कि इसमें मूर्च्छा स्वभाव से ही होती है। और वह योगी के लिए सुखप्रद है।

प्लाविनी प्राणायाम

अन्त प्रवर्तितो दारमारुता, पूरितोदरः।
पयस्य गाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत्।।

योगी प्राणायाम के बल से अपने पेट में वायु को पूरित करे। ऐसा अभ्यास करने से

ज्यों–ज्यों अभ्यास बढ़ जायेगा, त्यों–त्यों योगी पद्म पत्र वत् जल में तैरने लगेगा। यह अष्ट विधि प्राणायाम का उल्लेख योगिराज लोगों ने अपने ग्रन्थों में अनुभव के आधार पर अंकित किया है। प्राणायाम के अभ्यासी लोग इनका विधि पूर्वक अभ्यास करें किन्तु यह बहुत आवश्यक है कि अनुभवी गुरु की देखरेख में ही यह सब करें तभी यह लाभदायक हो सकता है बिना गुरु के पुस्तक या लेखों के आधार पर जो लोग अभ्यास करना आरम्भ करते हैं वह अभ्यास उनके लिए सुखप्रद नहीं रहता। प्रत्युत कहीं–कहीं पर तो इस प्रकार की भूलों से बड़ी भारी हानि दिखाई देती है। और साधक को पश्चात्ताप की अग्नि में जलना पड़ता है। इसलिए प्राणायाम के अभ्यासी को बड़ी सावधानी के साथ इस मार्ग का अभ्यास करना चाहिए।

■ भगवान को जो सरल विश्वास के साथ, अन्तःकरण पूर्वक पुकारता है, उन्हें छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता, वही उन्हें पाता है। और उन्हें पाकर फिर उसे और कुछ चाहने या पाने को रह नहीं जाता। जो इहलौकिक और पारलौकिक सुखों के लिए उन्हें पुकारते हैं या उनसे ऐहिक वस्तु चाहते हैं, उनकी दया या इच्छा होने से, यह तो उन्हें मिल सकती है पर वह उन्हें (प्रभु को) नहीं प्राप्त कर सकता।

■ शिव संहिता के मतानुसार योग में सिद्धि लाभ करने का प्रथम लक्ष्य है—मैं निश्चय ही सफल होऊँगा यह विश्वास। द्वितीय—श्रद्धापूर्वक साधन। तृतीय—गुरु पूजा। चतुर्थ—समता। पंचम—इन्द्रिय निग्रह। षष्ठ—परिमित आहार। सप्तम और कुछ भी नहीं। अर्थात् साधक में यही कुछ लक्षण ठीक–ठीक होने से सिद्धि निश्चित है। सभी मुमुक्षुओं के लिए यह प्रयोज्य है।

—श्री रमेश जोहरी

।। श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

सम्पादकीय–

भगवान कपिल का माता को योगोपदेश

आचार्य (डा.) दासलाल जी महाराज

महर्षि कपिल सांख्य दर्शन के प्रणेता है अपनी माता देवहुति को उन्होंने भक्ति एवं योग का उपदेश दिया, उसी का सार इस लेख में प्रस्तुत है–

भगवान कपिल अपनी माता को उपदेश देते हुए कहते हैं।

माता जी! अध्यात्म योग ही मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण का मुख्य साधन है जहाँ सुख और दुःख की सर्वथा निवृति हो जाती है।

योग अध्यात्मिकः पुसां मतो निःश्रेयसाय मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च।

जीव के बन्धन का और मोक्ष का कारण मन ही है। विषयों में आसक्त होने पर वह बन्धन का हेतु होता है, परमात्मा में अनुरक्त होने पर वह ही मोक्ष का कारण बन जाता है।

गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये।

मैं, मेरापन तथा काम क्रोधादि से मुक्त होकर वैराग्य और भक्ति से युक्त हृदय से आत्मा को प्रकृति से परे, स्वयं प्रकाश, अखण्ड एवं उदासीन देखता है। योगियों के लिए भगवत् प्राप्ति के निमित्त सर्वात्मा श्री हरि के प्रति की हुई भक्ति के समान और कोई मंगलमय मार्ग नहीं है। विवेको–जन संग (आसक्ति) को ही आत्मा का अच्छेध्य बन्धन मानते हैं। किन्तु वही संग जब महापुरुषों के साथ हो जाता है तो मोक्ष का द्वार खुल जाता है।

प्रसङ्ग मजरं पाशमात्मानः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्।

जो व्यक्ति दयाशील, सहनशील तथा 'सर्व भूतहिते रता' है। मेरे लिए जिन्होंने सब सगे सम्बन्धी त्याग दिया है, मेरे परायण हो कर मेरी पवित्र कथाओं का श्रवण कीर्तन करते हैं

उन्हें तरह–तरह के ताप (त्रयताप) नहीं सताते।

इसलिए देवी! महापुरुषों का संग ही इच्छा करने के योग्य है, क्योंकि वे आसक्ति उत्पन्न सभी दोषों को हर लेने वाले हैं। इस प्रकार मनोनिग्रह का यत्न करता हुआ लौकिक एवं पारलौकिक सुखों में वैराग्य हो जाने पर मनुष्य सावधानता पूर्वक शब्दादि विषयों को त्याग कर, वैराग्य युक्त ज्ञान एवं योग से मेरे प्रति की हुई सुदृढ भक्ति से मुक्त परमात्मा को इस देह में ही पा जाता है।

माता जी! जो लोग इहलोक, परलोक में साथ जाने वाली वासनामय लिंग देह (सूक्ष्म–शरीर) को तथा शरीर सम्बन्ध रखने वाली धन, पशु, गृह आदि हैं, उन्हें त्यागकर अनन्य भक्ति से सब प्रकार से मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं संसार–सागर से पार कर देता हूँ। मैं साक्षात् आत्मा हूँ। प्रकृति और पुरुष का भी प्रभु हूँ, तथा समस्त प्राणियों की आत्मा हूँ। मेरे भय से वायु चलती है, सूर्य तपता है, इन्द्र वर्षा करता है, अग्नि जलती है।

योगीजन ज्ञान वैराग्य युक्त मन से योग के द्वारा शान्ति प्राप्त करने के लिए मेरे निर्भय चरणों का आश्रय ग्रहण करते हैं।

माता जी! आत्म–दर्शन रूप ज्ञान ही पुरुष के मोक्ष का कारण है और इसी ज्ञान से उस की अहंकार रूप हृदय ग्रन्थि (अविद्याग्रन्थि) का भेदन करने वाला है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए, कि कुपथगामी (विषय चिन्तन) में लगे हुए चित्त को तीव्र भक्ति योग एवं वैराग्य के द्वारा धीरे–धीरे वश में करे।

देवी! अब मैं अष्टांग योग की विधि का वर्णन करता हूँ। यमादि योग साधनों के द्वारा श्रद्धापूर्वक अभ्यास द्वारा चित्त को बार–बार एकाग्र करते हुए, मुझमें सच्चा भाव रखना, समस्त प्राणी से समभाव, आसक्ति का त्याग, मौन व्रत, प्रारब्धानुसार जो मिल जाए उसी में सन्तुष्ट रहता है परिमित भोजन करता है, एकान्त रहता है, सब का मित्र है दयालु तथा धैर्यवान है, प्रकृति एवं पुरुष के वास्तविक स्वरूप को अनुभव करके, तत्व ज्ञान के द्वारा मैं, मेरेपन का अभिनिवेश नहीं करता है। परमात्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं देखता है। वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रों से सूर्य को देखने के समान अपने शुद्ध अन्तःकरण द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर शुद्ध ब्रह्म को पा जाता है।

भगवान कपिल आगे कहते हैं–शास्त्र विरुद्ध आचरण का त्याग, आत्म ज्ञानियों के चरणों की सेवा करना, संसार–बन्धन से छुड़ाने वाले धर्मों में प्रेम करना, पवित्र एवं परिमित भोजन करना, एकान्त व निर्जन स्थान में रहना, यम–नियमों का पूरा पालन करते हुए स्थिर पूर्वक बैठना, धीरे–धीरे प्राणायाम द्वारा श्वास को जीतना इन्द्रियों को मन के द्वारा विषयों से हटाकर हृदय में ले जाना। मूलाधार आदि किसी केन्द्र में मन सहित प्राण को स्थिर करना। जिस प्रकार वायु और अग्नि से तपाया हुआ सोना अपने मल को त्याग देता है उसी प्रकार

जो योगी प्राणवायु को जीत लेता है उसका मन बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है। अतः योगी को चाहिये कि प्राणायाम से कफ, पित्तादि दोषों को, धारणा से पापों को प्रत्याहार से विषयों के सम्बन्ध की और ध्यान से भगवद् विमुख करने वाली राग-द्वेषादि दुर्गुणों को दूर करे।

प्राणायाम दहेद्योषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्
प्रत्याहारेण संसर्गान्, ध्यानेनानीश्वरान् गुणान।

तत्पश्चात् भगवान के हर अंग का एकाग्र चित्त होकर ध्यान करना चाहिये।

माता जी! अब मैं तुम्हें अपने तीन प्रकार के भक्तों को बतलाता हूँ।

जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष-हृदय में हिंसा, दम्भ तथा मात्सर्य का भाव रखकर मुझ से प्रेम करता है वह मेरा तामस भक्त है। जो पुरुष विषय यश और ऐश्वर्य की कामना से प्रतिमादि में मेरा भेदभाव से पूजन करता है वह मेरा राजस भक्त है। पूजन करना कर्तव्य है इस बुद्धि से जो पूजन करता है वह मेरा सात्विक भक्त है। माता जी! मैं सभी जीवों में आत्मा रूप से स्थित हूँ। इसलिए जो लोग मुझ सर्वभूत स्थित परमात्मा का अनादर करके केवल प्रतिमा से ही मेरा पूजन करते हैं उनकी वह पूजा स्वांगमात्र है। जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवों के साथ बैर बांधता है वह शरीर में विद्यमान युक्त आत्मा से ही द्वेष करता है। उसके मन को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। जो व्यक्ति दूसरे का अपमान करता है वह बहुत बढ़िया-बढ़िया सामग्री से भी मेरा पूजन करे तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं होता हूँ। इसलिए जब तक सम्पूर्ण प्राणी में स्थित मुझ परमात्मा का अनुभव न हो जाये तब तक मुझ ईश्वर की प्रतिमादि में ही पून करे।

माता जी! पाषादि अचेतनों की अपेक्षा वृक्षादि श्रेष्ठ है उन से भी मन वाले प्राणी उत्तम हैं तथा उन से भी इन्द्रियों की वृत्ति से युक्त प्राणी श्रेष्ठ हैं। उनसे स्पर्श का अनुभव करने वाले, तथा उन से भी रस का अनुभव करने वाले मत्स्यादि श्रेष्ठ है। मत्स्यादि में गन्ध का अनुभव करने वाले तथा उन से भी शब्द को ग्रहण करने वाले श्रेष्ठ है। उन में ऊपर नीचे दोनों ओर दांत वाले श्रेष्ठ हैं। बिना पैर वाले जीव से अनेक पैर वाले, तथा उनसे भी चार-चरण वाले, तथा चार चरण वालों से भी दो चरण वाले मनुष्य श्रेष्ठ है। उनमें से भी अपने सम्पूर्ण कर्म फल तथा शरीर को भी मुझ में अर्पण करके भेदभाव छोड़कर मेरी उपासना करते हैं ये धर्म है। माता जी! इस प्रकार मैंने योग एवं भक्ति का उपदेश किया है। इन में से एक भी साधन कर लेने पर जीव मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा को अवश्य ही पा जाता है।

।। ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्या

डॉ. विजय सिंह

तीसवें अध्याय में, श्रीकृष्ण के गोपियों के मध्य से तिरोधान होने पर, विरहाकुल, चिन्तातुर गोपियों का चित्त एकाग्र होकर वे स्वयं श्रीकृष्णमय अपने को अनुभव करने लगीं। वे उसी मनोदशा में सर्वथा अपने को भूलकर श्रीकृष्ण स्वरूप हो गयीं। उन्हीं के लीला का अनुसरण करती हुई ''मैं श्री कृष्ण ही हूँ'', इस प्रकार वे कहने लगीं—

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः।।3।।

(अ. 30 स्क. 10 पूर्वार्ध)

जब तादात्म भाव भंग होता तो विरहाग्नि से पीड़ित जड़-लताओं एवं वृक्षों से श्रीकृष्ण महिमा बताती हुई उनसे श्रीकृष्ण का पता पूछतीं। शुकदेव भगवान कहते हैं—परीक्षित! इस प्रकार मतवाली गोपियाँ प्रलाप करती हुई भगवान श्रीकृष्ण को खोजते-खोजते कातर हो रही थीं। अब और गाढ़ा आवेश होने से वे भगवन्मय होकर भगवान की पूर्ववर्ती लीला का अनुकरण करने लगीं। गोपियों का रोम-रोम इस प्रतीक्षा में था कि जल्द से जल्द श्रीकृष्ण आयें। श्रीकृष्ण अनुराग रंजित वे सभी यमुना जी के पावन पुलिन पर रमणरेती में लौट आयीं और समवेत् स्वर में श्रीकृष्ण के गुणों का गान करने लगीं।

इक्तीसवें अध्याय में ''**गोपिकागीत**'' का भावपूर्ण कथन किया गया है। वे गायन करती कहने लगीं कि श्रीकृष्ण तुम केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो, समस्त देहधारियों के हृदय में रहने वाले अन्तर्यामी हो। सखे! ब्रह्मा जी के प्रार्थना से विश्व रक्षार्थ यदुवंश में अवतार लिये हो। हमारा हृदय तुम्हारी विरह-वेदना से जल रहा है। तुम्हारी मिलन की आकांक्षा सता रही है। प्यारे! तुम्हारा दर्शन ब्रज-वनवासियों के सम्पूर्ण दुःख-ताप को नष्ट करने वाली और विश्व का पूर्ण मंगल करने के लिये है। हमारा हृदय तुम्हारे प्रति लालसा से भर रहा है। कुछ थोड़ी ऐसी औषधि दो, जो तुम्हारे निजजनों के हृदय-रोग को सर्वथा निर्मूल कर दे।

गोपियों के विरह प्रलाप एवं गायन तथा फूट-फूटकर रोने से द्रवित श्रीकृष्ण उसी समय

उनके मध्य प्रकट हो गये। उस समय उनकी रूप माधुरी कामदेव के मन को भी मथने वाला था। प्राणहीन हो रही गोपियों में नूतन प्राण संचार हो उठा। वे सभी स्फूर्ति से भर गयीं। अलग–अलग गोपियों ने अपने मनोभावों के अनुसार भगवान का अभिनन्दन बन्दन करने लगीं।

एक गोपी नेत्रों के मार्ग से भगवान को अपने हृदय में ले गयी और फिर आँखें बन्द कर लीं। अब मन ही मन भगवान के आलिंगन करने से उसका शरीर पुलकित हो गया। रोम–रोम खिल उठा। वह सिद्धयोगियों के समान परमानन्द में मग्न हो गयीं–

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमिल्य च।
पुलकांङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानंदसम्पुलता।।8।।

(अ. 32 श्लो. 10 पूर्वार्ध)

श्रीकृष्ण दर्शन से विरहाकुल गोपियों को परम शांति मिली। उन ब्रजसुन्दरियों को साथ लेकर श्रीकृष्ण–यमुना जी के पुलीन में प्रवेश किये।

बड़े–बड़े योगेश्वर अपने योग साधना से पवित्र किये हुये हृदय में जिन्हें बैठाते हैं, फिर भी सफल नहीं होते वही सर्वशक्तिमान भगवान यमुना की रेती में गोपियों की ओढ़नी पर बैठ गये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं–परीक्षित। तीनों लोकों में जितना भी सौन्दर्य प्रकाशित होता है, वह सब भगवान के बिन्दुमात्र सौन्दर्य का आभासभर है। वे एक मात्र उसके आश्रय हैं।

गोपियों ने श्रीकृष्ण से कहा–नटनागर। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो प्रेम करने वालों से ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेन न करने वालों से भी प्रेम करते हैं। परन्तु कोई–कोई दोनों से ही प्रेन नहीं करते। प्यारे! इन तीनों में तुम्हें कौन सा अच्छा लगता है?

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भो:।।6।।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–मेरी प्रिय सखियों। जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं, उनका तो स्वार्थ का सम्बन्ध है। लेन–देन व्यापार है। न तो इसमें स्नेह है और न धर्म। ऐसा प्रेम स्वार्थमय है।

सुन्दरियों! जो लोग प्रेम न करने वालों से भी प्रेम करते हैं, वे स्वभाव से करुणाशील सज्जन होते हैं। माता–पिता में निश्छल सौहार्द, हितैषिता होता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करने वालों से भी प्रेम नहीं करते, न प्रेम करने वालों का तो उनके सामने प्रश्न ही नहीं है। ऐसे लोग चार प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो अपने स्वरूप में ही मस्त रहते हैं–जिसके दृष्टि में कभी द्वैत भासता ही नहीं। दूसरे वे जिन्हें द्वैत

का बोध होता है, परन्तु वे कृत–कृत्य हो चुके हैं। उनका किसी से कोई प्रयोजन ही नहीं है। तीसरे वे हैं, जो जानते ही नहीं कि हमसे कौन प्रेम करता है। चौथे वो मूढ़ चित्त के लोग होते हैं, जो जान–बूझकर अपना हित करने वाले परोपकारी गुरुतुल्य लोगों से भी द्रोह करते हैं और उनको सताना चाहते हैं।

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजत: कुत:।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुह:।।9।।

(अ. 32 श्लो. 10 पूर्वार्ध)

(इस कलि में चौथे प्रकार के लोगों का ही बाहुल्य है)

भगवान यहाँ एक साधना सम्बन्धी बात गोपियों के निमित्त से बताते हैं। कहते हैं, मैं तो प्रेम करने वालों से भी प्रेम का वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये। मैं ऐसा इसलिये करता हूँ कि साधक की चित्तवृत्ति और भी मुझमें लगे, निरन्तरता बनी रहे। जैसे निर्धन पुरुष को बहुत सा धन मिल जाये और अकस्मात् खो जाये तब उसका हृदय धन की चिन्ता से भर जाता है। मैं भी मिल–मिलकर छिप–छिप जाता हूँ। ऐसी स्थिति में तुम्हारी मनोवृत्ति कहीं और न जाये तथा मुझमें ही लगा रहे। तुम सभी मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ।

इस प्रकार गोपियों के विरह को शान्त कर भगवान श्रीकृष्ण महारास के हेतु सभी व्रजबालाओं को अपने मनोहारी वचनों से तुष्ट करके, आगे अपने अद्‌भुत प्रेम सम्पादन की मन:स्थिति पैदा कर दिया।

शुल्क समाप्ति की सूचना

मार्च 2019 के अंक के साथ ही पत्रिका का शुल्क समाप्त हो जाता है। श्री रामनवमी पर ग्राहक शुल्क जमा कर अगले वर्ष के ग्राहक बन गये किन्तु अभी भी सैकड़ों ग्राहकों ने शुल्क जमा नहीं किया है। वह Paytm 9808841705 तथा खाते में भी सीधा भेज सकते हैं। वार्षिक शुल्क 190 रु. है, द्विवार्षिक शुल्क 370 रु. है तथा दस वर्षीय (आजीवन) शुल्क 1000 रु. है। अत: पाठक अपना शुल्क शीघ्र जमा कर दें।

खाता संख्या–0371101018253

I.F.S.C.—Cnrb 0000371

खाता धारक–दासलाल ब्रह्मचारी व विनोद कुमार शर्मा,
कैनरा बैंक, एत्मादपुर।

कुराना गाँव में योग-प्रचार

—अशोक शर्मा, दिल्ली

आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं, ज्ञान स्वरूपं निज बोधरूपम्।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं, श्रीमद् गुरुं नित्यमहनमामि।।

(गुरुगीता)

कुराना गाँव में श्री सद्गुरु देव भगवान का योग-गंगा का अजस्र अविरल प्रवाह चल रहा था। सभी ग्रामीणवासी आनन्द-लाभ लेकर अपने जीवन का अलभ लाभ उठा रहे थे। गाँव के बाहर शिवालय पर कार्यक्रम चलता था। सायंकाल गाँव के भक्त लोग एकत्रित होकर श्री हरिनाम संकीर्तन करते थे और तत्पश्चात् महाप्रभु जी की आरती गुरुदेव किया करते थे। वे सब के सब गुरुचरण कमलों के अनुरागी थे। जिस समय वे लोग आरती में निर्वाणाष्टक स्तोत्र का गायन करते हुए नमामीश शम्भो! नमामीश शम्भो! की सामूहिक ध्वनि का उच्चारण किया करते थे तो वे पत्थर की मूर्ति की तरह स्तम्भित रह जाया करते थे। परिणाम यह हुआ कि गुरुदेव की कृपा से इस ध्वनि का उच्चारण करने वाले सैकड़ों व्यक्ति बेहोश होने लगे और उनको अन्तरानुभूतियाँ जारी हो गयीं। उस ध्वनि के उच्चारण के समय जो व्यक्ति वहाँ आकर बैठता वही स्तम्भ की तरह रह जाया करता था। वहाँ पास में ही ईख का रस निकालने वाला एक देसी कोल्हू था। जिसको बैलों से चलाया जाता था। संयोगवश नित्य प्रति ही ऐसा होना शुरु हो गया कि इधर किसान अपना कोल्हू चलाना शुरू करता। धीरे-धीरे संकीर्तन ध्वनि का प्रभाव बैल पर पड़ने लगा। ज्यों ही लोग एकाग्र मन से 'नमामीश शम्भो' की ध्वनि का उच्चारण करते त्यों ही कोल्हू में जुता हुआ वह बैल भी निश्चेष्ट होकर खड़ा हो जाया करता था। जब तक वह ध्वनि चलती तब तक वह बैल खड़ा ही रहता था। चाहे उसे कोई कितना ही डंडे से पीटे वह अपने स्थान पर निश्चेष्ट खड़ा रहता था, हिलता नहीं था। उसकी आँखों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ जाया करती थीं। ध्वनि के समाप्त होते ही उसकी आँखों की पुतलियाँ नीचे आ जातीं और वह चकित होकर चारों ओर देखने लगता। इसका कारण यह था कि उसकी आँखें ध्येय वस्तु दीखते रहने के कारण निश्चेष्ट हो जाया करती थीं और समाधि के बाद पुतलियाँ नीचे आ जाया करती थीं और वह पुनः कोल्हू में ईख पेरने का कार्य करने के लिए चल पड़ता था।

इस घटना से सिद्ध होता है कि मन की एकाग्रता के विविध साधनों में सामूहिक हरिनाम संकीर्तन भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

'नास्ति नाद सदृशो लय:'

नादानुसन्धान के समान जल्दी लयता प्रदान करने वाला दूसरा कोई साधन नहीं है।

दूसरी घटना–

एक दिन प्रात: जब सभी लोग गुरुदेव से पुष्प–प्रशाद लेकर ध्यान में बैठ गये। तब मास्टर जी के छोटे पुत्र पं. कृष्ण दत्त जो हर रोज तो गुरुजी के पास बैठकर खेलते रहते थे। उस दिन जिद्द करने लगे कि आज तो मैं भी ध्यान में बैठूँगा। उनके इस प्रकार कहते रहने पर गुरुजी ने कहा अच्छा कान मत खा और ध्यान में उस दरख्त के नीचे बैठ जा। वह बोले न्यूँ नहीं मुझे भी प्रशाद दो। गुरुजी ने नीचे से एक मिट्टी का डेला उठाकर उनके हाथ पर रखा और कहा खाले और बैठ जा। वह कहने लगे–गुरुजी! मैं ध्यान में क्या देखूँ? तू! अपनी लीला देख। वह गुरुदेव के वचनानुसार निर्दिष्ट पेड़ के नीचे बैठे ही थे कि पाँच मिनट बाद ही घनघोर घटायें आसमान में घिर आयीं और मूसलाधार वर्षा होने लगी। परन्तु आश्चर्य की बात कृष्णदत्त जहाँ ध्यान में बैठे थे वहाँ पेड़ के चारों ओर गोल घेरे में पूरी तरह सूखा था। वर्षा होने पर सभी ध्यान से उठकर गुरुजी के पास भागकर आ गये और कहीं छिपने का स्थान ढूँढकर शिवालय में चले आये। सभी कहने लगे कि गुरुजी! पाँच मिनट पहले तो आसमान में बादल का कतरा भी नहीं था, फिर यह घनघोर वर्षा कहाँ से आ गई। गुरुजी कहने लगे–अरे उस कृष्ण को उठाओ उसी का करा धरा है। सबको भिगो दिया। जब बालक कृष्ण दत्त आये तो उन्होंने अपना ध्यानानुभव सुनाया और बतलाया कि मैं तो भगवान कृष्ण चन्द्र जी के साथ लाठी लेकर खड़ा था। श्रीकृष्ण जी ने अपनी छोटी कनिष्ठका अँगुली पर गोवर्धन पर्वत उठा रखा था। बृजवासी सभी उसके नीचे खड़े थे। भगवान ने मूसलाधार बारिश के प्रकोप से सब बृजवासियों और उनके पशुओं को बचा रखा था। मैं भी वहीं पर लाठी के टेक से पर्वत के नीचे खड़ा था। यह था सर्वसमर्थ सद्गुरुदेव योग योगेश्वर अनन्त श्री विभूषित हमारे आपके परमात्मा चन्द्रमोहन जी महाराज के सत्संकल्प से बालक कृष्ण दत्त को ध्यान–समाधि शक्तिपात द्वारा प्रदान कर अन्तरानुभूति कराना।

ध्यान क्या और क्यों?

—श्री विष्णु प्रसाद व्यास, बीना, (मध्य प्रदेश)

यह जगत् दुःखों एवं विपत्तियों से परिपूर्ण है यदि आप संसार के कष्टों एवं दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं तो आपको ध्यान का अभ्यास करना पड़ेगा। ध्यान ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग है। यह ब्रह्म साम्राज्य की प्राप्ति के लिए राजपथ है। यह रहस्यमयी सिद्धि है जो पृथ्वी को स्वर्ग से, असत्य को सत्य से, अन्धकार को ज्योति से, दुःख को आनन्द से, अशांतियों को शांति से तथा मृत्यु को अमरत्व से जोड़ती है। ध्यान से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है जिससे नित्य शान्ति तथा परम सुख की प्राप्ति होती है। ध्यान द्वारा आप पूर्णत्व का साक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभूति प्राप्त कर सकते है।

ध्यान शक्तिशाली टानिक है। यह मन तथा स्नायुओं को शक्ति प्रदान करता है। पवित्र स्पन्दन शरीर के सारे जीवकोषों में प्रवेश करते तथा रोग को दूर करते हैं। जो ध्यान का अभ्यास करते है वे डॉक्टरों का बिल चुकाने से मुक्त रहते है। ध्यान के समय जो शक्तिशाली शांतिमय स्पन्दन उठते हैं उनका मन, स्नायु, शरीर के अंग तथा जीवकोषों पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे ईश्वरीय शक्ति भगवान के चरणों से तैलधारावत् मुक्त रूप से बहने लगती है।

ध्यानपथ सुरंग के समान अन्धकारमय है। दिन में पथिक सूर्य के प्रकाश के सहारे चलता है। सूर्यास्त होने पर चन्द्रमा के प्रकाश के सहारे। जब वह भी अस्त हो जाता है तो नक्षत्रों के प्रकाश का सहारा मिलता है और उसकी समाप्ति पर आत्मा का प्रकाश सहायक होता है। ध्यान की भी यही अवस्था कही है। इन्द्रियाँ सूर्य हैं, मन चन्द्रमा, संस्कार, नक्षत्र और इन सबके पार आत्मा का प्रकाश ही चरम प्रकाश है। इसलिए नित्य नियम पूर्वक ध्यानाभ्यास का समय साधकों को अवश्य निकालकर ध्यानानन्द की उपलब्धि करनी चाहिए।

योगक्षेमं वहाम्यहम्

श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा

श्रीमद्भागवत् गीता के नवें अध्याय का 22 वाँ श्लोक इस प्रकार है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना में रत रहते हैं, ऐसे निरन्तर अपने से जुड़े हुए व्यक्तियों के योग तथा क्षेम दोनों का निर्वहन मैं स्वयं करता हूँ।

कितना उदार व उन्मुक्त आमन्त्रण है प्रभु की ओर से जीवमात्र को। प्रभु उद्घोष कर रहे हैं कि समस्त समर्पण भाव से मेरी ओर आने का मन तो बनाओ। जब तक हमारा मन ही स्थिर नहीं है, वह भ्रमित व चलायमान है, तब तक हमारा संशयालु मन शंकाओं से ग्रस्त होकर भयाक्रान्त ही रहेगा। योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में एक–स्थल पर कहा भी है कि 'संशयात्मा विनश्यति'। संशय में पड़े रहने वाले व्यक्ति का विनाश ही हुआ करता है।

इसका प्रथम सोपान है श्रद्धा। श्रद्धावान ही ज्ञान लाभ किया करते हैं। गीता में अन्यत्र स्थलों पर निम्न सुन्दर उक्तियाँ इस बात की पुष्टि में सहायक हैं। एक जगह तो यह कहा है कि **''श्रद्धामयोऽयं पुरुषः''** तथा दूसरे स्थल पर **''श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्''**। इन उक्तियों का यदि हम थोड़ा सा भी विश्लेषण करने का प्रयास करें तो हमारा संशय दूर हो जायेगा। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' का भाव यह है कि ईश्वर की अंशभूत आत्मा, जो हम सबके अंदर विराजमान है वह श्रद्धा से पूर्ण है। बस हमें मात्र करना यह है कि उस श्रद्धा को जागृत कर उसे एक सुन्दर दिशा की ओर उन्मुक्त कर देना है। जहाँ श्रद्धा को अनुकूल वातावरण मिला, वहीं दिव्य भाव का संचार हो जाया करता है। इसके पश्चात् भगवद् वचन है कि **''श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्''** इसका आशय यह है कि श्रद्धा से युक्त व्यक्ति ही ज्ञान का लाभ किया करता है।

ज्ञानवान व्यक्ति के लिए तो भगवान श्रीकृष्ण ने कितनी उदार वाणी में इन शब्दों का

उच्चारण किया है कि ''ज्ञानवान मां प्रपद्यते'' ज्ञानवान् व्यक्ति मुझे ही प्राप्त हुआ करता है। एक अन्य स्थल पर भगवान वासुदेव अपने मुखारविन्द से यह कहते हैं कि मुझे चार प्रकार के व्यक्ति भजते हैं। वे चारों प्रकार के व्यक्ति सुकृति अर्थात् पुण्य कार्यों को ही करने वाले होते हैं। प्रथम प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं, जो किसी अकस्मात–विपत्ति के आने पर दुःखी होकर अनन्य भाव से मेरे शरणागत हो जाया करते हैं। दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे हैं जो 'जिज्ञासु' की कोटि में रखे जा सकते हैं। किन्हीं पूर्व जन्मों के संस्कारवश उनके पुण्योदय होते हैं तब वे मेरी ओर उन्मुख होते हैं और तभी वे 'अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा' के प्रथम ब्रह्मसूत्र के अध्येता बन प्रभुकृपान्वेषी होकर मात्र जिज्ञासु भाव से इस प्रशस्त अर्थ की ओर अग्रसर होते हैं।

तीसरे प्रकार के लोग 'अर्थार्थी' की कोटि में रखे गये हैं। ये वे बुद्धात्मा हैं जो प्रभु शरणापन्न हुआ करते हैं परन्तु उसमें उनका कुछ न कुछ प्रयोजन निहित हुआ करता है। चौथे प्रकार के सर्वोपरि बुद्धात्मा वे व्यक्ति हैं जो ज्ञानवान हैं तथा तात्विक रूप से जिन्हें आत्म–बोध हो गया है। इसलिये भगवान श्रीकृष्ण से अपने मुखारबिन्द से निम्न श्लोक के साथ–साथ अन्य श्लोकों को भी हमारे कल्याण के लिए गीता में सन्निहित कर दिया है।

चतुर्विधा भन्जते मां
जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुर्र्थार्थी
ज्ञानी च भरतर्षभ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त
एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ
महं स च मम प्रिय।।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी
त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः सहि युक्तात्मा
मामेवानुत्तमां गतिम्।।
बहूनां जन्मनामन्ते
ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स
महात्मा सुदुर्लभः।।

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानी पुरुष के लिए भगवान ने स्वयं कहा है कि वह एकमति अर्थात् एकनिष्ठ होकर रहते हैं तथा उनका तात्विक विवेचन उन्हें सदैव एकरूपता की स्थिति में बनाये रखता है। जो ज्ञानवान होगा, वह भक्तिवान अवश्य ही होगा, इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं है। इसलिए ज्ञानवान् की कोटि सर्वोपरि भगवान द्वारा रखी गयी है।

उपरिलिखित से यह निष्कर्षतः सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानी व्यक्ति में भक्ति की अतिशयता स्वयं सिद्ध है। ऐसे ही पुण्यवान व्यक्ति ज्ञान व भक्ति दोनों के तारतम्य से यदि भगवत् चिन्तन के प्रति अनन्य भाव से सन्नद्ध रहते हैं तब तो यह सोने में सुहागे की उक्ति को चरितार्थ करने वाली बात हो जाती है। पहले तो अनन्य भाव हो उस पर तत्वतः ज्ञानवत्ता की स्थिति तथा उस पर भी योगमुक्त होकर भगवत् चिन्तन में ही निरत रहने वाले व्यक्ति की योगक्षेम और कौन वहन करेगा? वही तो वहन करेंगे जिनका निशदिन ऐसे व्यक्ति मनन, श्रवण एवं निदिध्यासन करते रहते हैं।

एक बात यहाँ उल्लेख कर देने योग्य यह है कि ऐसे सद्गुणी व्यक्ति में भी यहाँ अहंकार का भाव उदय हो जाता है तो उनके उल्लिखित गुण गौण रूप में विद्यमान रहते हैं तब अनन्यभाव न रहकर वह अन्य भाव हो जाया करता है जिससे उससे प्राप्त होने वाले योगक्षेम की स्थिति फिर संशयास्पद हो जायेगी। तो अहंकार की स्थिति से ज्ञानी व्यक्ति को सदैव बचना चाहिए। तथापि वे सर्वज्ञता की स्थिति को भी प्राप्त कर चुके हों उन्हें यही विचार करना चाहिए कि वे तो निमित्तमात्र हैं। कर्त्ता, धर्त्ता तथा हर्त्ता तो उसके अतिरिक्त अन्य ही है जिसके ऊपर वे सदैव अनन्य भाव से आश्रित हैं।

व्यवहार जगत में भी हम प्रायः यह देखते रहते हैं कि जब एक शिशु जो पूर्णरूपेण अपनी जननी पर ही प्रत्येक कार्य के लिए आश्रित एवं अवलम्बित है, उसके हर कार्य, खान, पान, पहनना, ओढ़ना आदि की जिम्मेदारी उसकी माता की ही हो जाया करती है और दूसरे अर्थों में वह ही उसके योगक्षेम की संपूर्ण भाव से देखरेख किया करती है। जहाँ उस शिशु की शिशुता समाप्त हुई और बच्चे में यह भाव आया कि नहीं अब तो मैं दूसरे–दूसरों का सहारा लेकर या अपने से ही सब काम कर सकता हूँ–तब क्या माता उसकी जिम्मेदारी को ओढ़ती है। कदापि नहीं। इसी प्रकार भगवदीय पक्ष में भी इस सिद्धान्त की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि योग तथा क्षेम दोनों भिन्न–भिन्न अर्थ को

धारण करते हैं जो हमें प्राप्त है उसका परिरक्षण भगवान स्वयं करते हैं तथा जो प्राप्तव्य है अथवा जो भावी जीवन के लिये कल्याणमय है, उसका दायित्व भी भगवान स्वयं वहन करते हैं। कितना बड़ा उपकार परम कृपालु प्रभु करने को तत्पर हैं परन्तु एक हम हैं जिन्हें सांसारिक अवलम्बों को ही सर्वस्व माने बैठे हैं और सदैव चिन्तातुर एवं भयातुर रहते हैं।

हम दूर क्यों जायें? हमारे आराध्य गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज स्वयं इसके अनुपम उदाहरण हैं। यद्यपि वे इतने अधिक सामर्थ्यवान तथा सिद्ध थे कि स्वयं ही सब कार्यों का निस्तारण सहज रूप में कर दिया करते थे परन्तु कभी भी अपने ऊपर इसका श्रेय नहीं लिया। वे निरहंकार एवं निर्लिप्त भव से अपने इष्ट एवं प्रातः स्मरणीय प्रभु श्री रामलाल जी का सदा सर्वदा चिन्तन किया करते थे और यही कहा करते थे कि करण कारणहार तो प्रभुजी ही हैं, मैं तो कुछ भी नहीं। वे विनोद में प्रायः कहा करते थे कि जैसे हलवे में चम्मच हुआ करता है वही मेरी स्थिति है। हलवा तो प्रभु जी स्वयं है। ये थी उनके अनन्य भाव की पराकाष्ठा।

मेरे विचार में यदि हम भी सर्वतोभावेन अपने ही इष्ट एवं आराध्य गुरुदेव के प्रति समर्पित भाव से अनन्य भक्ति युक्त रहकर उनका चिन्तन करते हैं तो क्या वे हमारी योग और क्षेम का वहन नहीं करेंगे, अवश्यमेव करेंगे, यही हमारी अटूट श्रद्धा एवं आस्था है। इसे ही सदैव श्री गुरुदेव बनाये रखें, यही हमारी हार्दिक कामना है।

कर न निन्दा तू किसी की, यह न मानव धर्म है।
और के अवगुण निरखना, यह महा दुष्कर्म है।
कर भले से भले से भाव लेकर, तू भलाई लोक की।
दे हटा, आई घटा हो, यदि किसी पर शोक की।।

—दिव्य

योग चित्त और चरित्र

(श्री नेमीचन्द्र रघुवंशी)

प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य में स्वयं अपने लक्ष्य, मार्ग और गन्तव्य के प्रति अटूट विश्वास, आस्था और समर्पण की भावना नहीं होती। चारों ओर पापियों को बाह्याडम्बरों से फलता–फूलता देखकर कभी–कभी कुछ काल तक अभ्यास करने के बाद साधक स्वयं को थकित अनुभव करने लगता है। और शनैः शनैः साधना को कम करता हुआ बिल्कुल समाप्त कर देता है।

इस मानवी–निर्बलता का कारण क्या है? यदि हम तनिक गहराई से आपात–स्थिति पर विचार करें तो मूलतः आचार और चरित्र का सतत्–प्रवर्द्धमान विलोप, उपेक्षा और अभाव ही इसके एक मात्र हेतु हैं। मानवी–निर्बलताओं के निवारण हेतु क्रान्तदर्शी मुनि व्यास ने 'योग–दर्शन' के दूसरे सूत्र ''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'' का भाष्य करते हुए मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित निम्न सारगर्भित तथ्य कहा है–

चित्त नदीनाम्
उभयतो वाहिनी।
बहति कल्याणाय
बहति पापाय च।
यातु कैवल्य प्राग्भारा अविवेक
विषय निम्नासा कल्याणवहा।
संसार प्राग्भारा अविवेक
विषय निम्ना पापवहा।।
तत्र बैराग्येण विषय
स्त्रोतः खिली क्रियते।
विवेक दर्शनाभ्यासेन
विवेक स्त्रोत उद्घाट्यते।।

अर्थात्! चित्त रूपी नदी कल्याण और पाप दोनों की ओर बहती है। कल्याण रूपी चित्त नदी वह है जिसका प्रवाह मोक्ष की ओर है, और जिसकी तल–भूमि विवेकहीनता की है वह

पाप दिशा में प्रवाहित होने वाली है। पाप वाहिनी चित्त नदी को पुण्य वाहिनी बनाने का उपाय यही है कि पाप के उद्गम स्थल को वैराग्य साधन से शुष्क कर दिया जाये और विवेक तथा आत्म–दर्शन के अभ्यास से पुण्य स्त्रोत का उद्घाटन कर दिया जाये।

चूँकि चित्त और चरित्र का निर्माण अभ्यन्तरापेक्षी है अर्थात् चरित्र–निर्माण से पूर्व चित्त–निर्माण अनिवार्य है। अतः चित्त–शुद्धि हेतु भगवान व्यासदेव के उपरोक्त उपदेशानुसार वैराग्य एवं योग–साधना परमावश्यक है।

चरित्र के लिए प्रधानतः आचार, व्रत और शील तीन शब्द स्मृतियों एवं धार्मिक–ग्रन्थों में प्रयुक्त हैं। 'आचार' शब्द की धातु है आ, उपसर्ग चर, गति–भक्षणादि जो जीवन में चारों ओर गतिशील एवं प्रेरक हो और आत्मा के लिए भक्षण अर्थात् भोजन रूप पुष्टिकारक हो, वह आचार है। इसी से आचार्यः शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्त–''आचारं ग्राह्यति प्राप्नोति वा इत्याचार्यः'' के अनुसार है। भारतीय सभ्यता में आचार की सर्व श्रेष्ठता का वर्णन मनुस्मृति के अध्याय एक में मिलता है–

आचारः परमो धर्मः
श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन सदा युक्तो
नित्यस्यादात्मवान् द्विजः।।
एवमाचारतो दृष्ट्वा
धर्मस्य मनु योगतिम।
सर्वस्य तपसो मूल–
माचारं जगृहुः परम्।।

अर्थात्! श्रुति और स्मृतियों में कथित आचार ही परम धर्म है। इसलिए आत्महित इच्छुक ब्राह्मण सदा इसके पालन में तत्पर रहे। मुनियों ने सदाचार को ही धर्म का मूल हेतु समझकर समस्त तपोमय जीवन के लिए आचार को ही ग्रहण किया।

चरित्र के लिए दूसरे शब्द 'वृत्त' का प्रयोग संस्कृत वाङ्मय में हुआ है। वृत की महत्ता बतलाते हुए महाभारत उद्योग पर्व में विदुर महाराज धृतराष्ट्र को नीति–शिक्षा देते हैं–

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद,
वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो
वृत्ततस्तु हतो हतः।।

कि वृत्त की ध्यानपूर्वक रक्षा करनी चाहिए, वित्त (धन) तो आता, जाता रहता है। धनहीन निर्बल नहीं है, परन्तु वृत्तहीन मृत–तुल्य है।

'वृत्त' का अर्थ गोल है और कोई भी गोलाकार पदार्थ केन्द्र बिन्दु रहित नहीं हो सकता है। इसी प्रकार जीवन रूपी वृत्ताकार चक्र का केन्द्र बिन्दु आत्मा है और आत्मा रूपी केन्द्र की पवित्रता के बिना जीवन रूपी वृत्त निरर्थक है। योग–योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने श्री मद्भगवत् गीता में स्पष्ट कहा है–

उद्धरेदात्मनात्मानं
नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो, बन्धु–
त्वैव रिपुरात्मनः।।
बन्धु रात्मात्मनस्तस्य,
येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मस्तु शत्रुत्वे,
वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।

अपने द्वारा आपका संसार समुद्र से उद्धार करे और अपने आत्मा को अधोगति में न जाने दें। यह जीवात्मा ही अपना मित्र और शत्रु है अर्थात् और कोई दूसरा अस्तित्व मित्र वा शत्रु नहीं है। जीवात्मा का तो वह आप ही मित्र है यदि जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है। और जिसके द्वारा मन तथा सइन्द्रिय शरीर अजेय है उसका वह आप ही को शत्रुवत् व्यवहार करता है।

स्पष्ट है कि वृत्त की रक्षा हेतु योगारूढ़ता परमावश्यक है क्योंकि योगारूढ़ता ही वृत्त के केन्द्र बिन्दु आत्मा के पवित्रीकरण का एकमात्र साधन है। योग–साधना ही आत्मदर्शन द्वारा चित्त–निर्माण करने में समर्थ है। साथ ही उन प्रवर–संतों का साथ भी आवश्यक है जिनकी केवल आत्मा में ही प्रीति है, जो आत्मा में ही सदैव संतुष्ट हैं। संसार में होने वाले अनेकानेक कार्य कलापों से जिनका कोई प्रयोजन नहीं, लेकिन फिर भी उनके द्वारा पर हितार्थ कर्म किये जाते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में चरित्र के लिए तीसरा शब्द 'शील' प्रयुक्त है। शास्त्रानुसार शील का स्वरूप–'अद्रोह सर्वभूतेषु कर्मण मनसागिरा' अर्थात् मन, वचन और कर्म द्वारा प्राणिमात्र में द्रोह, बैर आदि भावनाओं का न होना, तथा दूसरों के प्रति अनुकम्पा और दान देना है।

इस प्रकार चित्त–निर्माण हेतु प्रधानतः तीन साधनाएँ अनिवार्य हैं। जिनमें प्रथम चित्त–शुद्धि

हेतु योगारूढ़ता और उत्थान का चिरकाल तक दृढ़ संकल्प, द्वितीय निरन्तर, अटूट और सद्मार्ग का अनुगमन तथा तृतीय व्यक्ति की स्वयं इन साधनाओं पर अविचल, एकान्तिक और अहैतुक श्रद्धा तथा पूर्णनिष्ठा। चित्त–निर्माण की ये साधनाएँ आभ्यांतरिक रूप में चरित्र–निर्माण की ही साधनाएँ हैं। अतः हमारा परम–कर्त्तव्य है कि हम योग विद्या को हृदयंगम करें और अपने इष्ट श्री सद्गुरुदेव जी महाराज की अलौकिक–अनुकम्पाओं से चरित्रवान बनें तथा अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करें।

पत्नी को पति को पाने के लिए जो उपाय करने पड़ते हैं वे ही उपाय उस दाता से मिलने के हैं। कैसे समझो। पत्नी पति को जब तक वरण नहीं करती तब तक इधर–उधर भटकती फिरती है। एक बार वरण हो गया सौदा पक्का हो जाता है। वह अपनी सेवा से दासी भाव से पति पर अपना अधिकार इतना कर लेती है कि पत्नी स्वामिनी बन जाती है और पति उसकी अंगुली पर नाचने लगता है। यह है प्रेम का जादू। भगवान कृष्ण कहते हैं 'हम भक्तन के भक्त हमारे। आगे कहते हैं–मैं भक्त के लिए अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर–हाँकत हूँ रथ तेरो।' यह है मजा प्रेम का। भक्त भगवान को नचाता है। एक बार प्रेम कर देखो फिर देखो तुम खुद ही खुदा हो जाओगे। अफसर का मुँह लगा नौकर किस शान से कहता है। अजी साहब तो मेरी मुट्ठी में हैं जो चाहूँ करा लूं। किसके बल पर! अपनी सेवा और वफादारी के बल पर।

—सन्त दाता महाराज

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

(स्व. श्री साने गुरु)

आज बहुत से लोग गुरु शिष्य सम्बन्ध की महत्ता और पावनता को नहीं समझते। गुरु भक्ति की आदर्श परम्परा आज दम्भ और अहंकार की वृद्धि के कारण प्रायः मिटती चली जा रही है।

गुरु का अर्थ केवल शिक्षक नहीं है, केवल आचार्य नहीं है। शिक्षक अथवा आचार्य उस ज्ञान विशेष से हमारा थोड़ा बहुत परिचय करा देते हैं। हम उनका हाथ पकड़ कर ज्ञान के आंगन में आते हैं। लेकिन गुरु, जिन्हें सद्‌गुरु भी कहकर स्मरण किया जाता है हमें ज्ञान के सिंहसन पर ले जाते हैं। यह सद्‌गुरु हमें जीवन के ध्येयों के साथ एकाकार कर देते हैं। ज्ञान में तन्मय हो जाने वाला गुरु शिष्य को भी समाधि अवस्था प्राप्त करा देता है। स्कूल में विद्यार्थी प्रश्न पूछते है, लेकिन यहाँ सद्‌गुरु के साथ बहुत से प्रश्नोत्तर नहीं होते। यहाँ बिना बोले ही शंकाओं का समाधान हो जाता है। बिना कहे उत्तर मिल जाता है। बिना बोले ही सद्‌गुरु सिखा देते हैं, और बिना पूछे शिष्य सीख जाता है। सद्‌गुरु मानो उमड़ता हुआ ज्ञान–सागर हैं। सद् शिष्य का मुख चन्द्र देखकर गुरु लहराने लगता है। गीता में ज्ञानार्जन का प्रकार बताते हुए आनन्दकन्द भगवान कृष्णचन्द्र ने कहा है–

तद्विद्धि प्रणपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

अर्थात् यह ज्ञान प्रणाम करने, बार–बार पूछकर और सेवा करके प्राप्त करो।

हम परिश्रम करके शिक्षक से ज्ञान प्राप्त करते है, लेकिन गुरु या सद्‌गुरु के पास तो प्रणाम और सेवा ही ज्ञान के दो मार्ग देते हैं। नम्रता ज्ञान का सच्चा आरम्भ है। शिष्य गुरु के पास खाली मन लेकर जाता है। कुँए में अपार पानी है, लेकिन यदि बरतन नहीं झुके तो उस बरतन में एक बूंद भी नहीं आ सकेगा। इसी प्रकार जो ज्ञान के सागर हैं उनके सामने जब तक हम झुकेंगे नहीं हमें ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा। भरने के लिए जैसे झुकना पड़ता है, वैसे ही प्रगति के लिए भी झुकना ही पड़ता है।

संगीत सीखने की इच्छा रखने वाला कोई लड़का किसी संगीत की पाठशाला में जाता है। वहाँ कुछ वर्षों तक वह संगीत सीखता है। लेकिन उसे संगीत का सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता। संगीत से उसका परिचय होता है, लेकिन संगीत की आत्मा उसे कब दिखाई देगी कब

समझ में आयेगी–तब जब वह किसी महान गायक की संगति में साधक बनकर वर्षों तक रहेगा। उस संगीत–गुरु की भक्ति के साथ सेवा करेगा। जब जब गुरु राग अलापने लगे तब तक नम्रता पूर्वक अपनी सारी इन्द्रियों को एकाग्र करके उस राग को सुनेगा तभी उसको सच्ची विद्या प्राप्त होगी। जो ज्ञानोपासक शिष्य केवल विनम्र बनकर सद्गुरु की शरण लेता है सद्गुरु उसकी जाति और कुल का विचार नहीं करते। सद्गुरु केवल एक बात देखता है और वह है शिष्य की लगनशीलता। जब शत्रु पक्ष का कच प्रेम पूर्वक शुक्राचार्य के चरणों में आया तब उन्होंने उसे संजीवनी विद्या दी।

गुरु सम्पूर्ण ज्ञान हमारी भेंट करता है, भिन्न–भिन्न ज्ञान प्रान्तों के अबतक के सारे स्थानों से वह हमारा गठबन्धन कर देता है। वह सारा भूतकाल हमें दिखा देता है, वर्तमान से परिचय करा देता और भविष्य का दिशादर्शन करा देता है। गुरु या सद्गुरु का मतलब है अब तक का सम्पूर्ण ज्ञान।

गुरु मानो एक प्रकार से हमारा ध्येय है। हमें जिस ज्ञान की पिपासा है वह अधिक यथार्थता से हमें जिसके पास प्रतीत होता है वही हमारा गुरु बन जाता है।

गुरु भक्ति का मतलब है एक प्रकार का ध्येय भक्ति। गुरु शब्द की अपेक्षा ध्येय शब्द की योजना कीजिए फिर आपको गुरु भक्ति पागलपन प्रतीत नहीं होगी। खिले हुए कमल के पास जिस प्रकार रस पीने के लिए गुंजार करता हुआ भौंरा अधीर होकर आता है, धीरे से बैठता है, और उसका रस पीते–पीते तल्लीन हो जाता है यही स्थिति सद्गुरु के पास सद् शिष्य की हो जाती है। वह गुरु के ज्ञान कोश को लूट लेता है छोड़ता नहीं है। वह गुरु को खाली करने के लिए व्याकुल रहता है। लेकिन यह गुरु को खाली तभी कर सकेगा जब शिष्य स्वयं खाली होगा उसके अपने जीवन का बरतन जितना बड़ा और गहरा होगा, उतना ही वह गुरु से ले सकेगा। समर्थ गुरु **रामदास ने लिखा है–अपनी लघुता का भान न छोड़ो। हमें यह सदैव प्रतीत होना चाहिए कि अभी हम अज्ञानी हैं पूर्णतया खाली हैं अभी हमको बहुत सीखना है–यही जीवन के विकास का मार्ग है। जब हम यह कहते हैं कि मैं सब कुछ सीख गया, सब कुछ समझ गया तब ऐसा कहते ही सारा ज्ञान मार्ग रुक जाता है।** ध्येय सदैव बढ़ता ही रहता है, ध्येय रूपी गुरु अनन्त है उसकी जितनी भी सेवा कीजिए वह अपर्याप्त ही रहेगी।

गुरु हमें सिखाता है कि विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान के लिए हमें किस प्रकार व्याकुल रहना चाहिए किस प्रकार पागल जैसा बनना चाहिए। शिष्य को यह प्रतीत होता है गुरु मानो अनन्त ज्ञान की मूर्ति है। गुरु मानो सत्य–ज्ञान की उत्कटता है। हमारे गुरु का आदि है न अन्त। न

पूरब है न पश्चिम। हमारा गुरु है परिपूर्णता।

ऐसे गुरु को कुछ भी देना नहीं पड़ता। उसको आप जितना दें थोड़ा है। गुरु को यह देखने की आवश्यकता नहीं है कि शिष्य ने कितना दिया—क्या दिया। वह जो कुछ देता है उसमें करुणा का सागर भरा रहता है। उसका हृदय ही उसमें उड़ेला हुआ होता है।

गुरु अपना सारा ज्ञान शिष्य को दे देता है। छिपाकर कुछ भी नहीं रखता। सच्चा गुरु यही चाहता है कि उसके द्वारा आरोपित ज्ञान का वृक्ष उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहे।

गुरु मानो विशिष्ट ज्ञान का प्रतीक है। ज्ञान की पूजा ही मानो गुरु भक्ति है। गुरु अपनी अन्ध भक्ति पसन्द नहीं करते। गुरु के सिद्धान्तों को आगे बढ़ाना उनके प्रयोगों को आगे चालू रखना ही उनकी सच्ची सेवा है। गुरु की पूजा मानो सत्य की पूजा, ज्ञान की पूजा अनुभव की पूजा, विचारों की पूजा है। जब तक मनुष्य में ज्ञान पिपासा है, ज्ञान के लिए आदर की भावना है, तब तक संसार में गुरु भक्ति रहेगी।

भारत में गुरु शब्द के स्थान पर सद्‌गुरु शब्द की बड़ी महिमा है। सद्‌गुरु का अर्थ क्या है। गुरु विभिन्न ज्ञान प्रान्तों अथवा विभिन्न कलाओं में हमें आगे ले जाता है लेकिन सद्‌गुरु हमें जीवन की कला सिखाता है।

गीता में कहा है—अध्यात्म विद्या विद्यानाम्, जीवन को सुन्दर बनाना अपने जीवन को निर्दोष, निष्काम, निरुपाधि करना ही सबसे बड़ी विद्या है और इस विद्या को सिखाने वाला ही सद्‌गुरु होता है।

शिष्य अपना मटमैला जीवन सद्‌गुरु के सम्पर्क में रहने से ही निर्मल बनाने का अवसर पाता है। प्रत्यक्ष प्रायोगिक शिक्षा प्रत्येक क्षण मिलती है। सद्‌गुरु के श्वासोच्छ्वास के साथ पवित्रता आती है। माता–पिता शरीर देते हैं जन्म देते हैं, लेकिन यह बात सद्‌गुरु ही सिखाते हैं कि इस मिट्टी के शरीर को सोना कैसे बनाया जाय। भौतिक शास्त्र का गुरु मिट्टी से माणिक बना देगा लेकिन सद्‌गुरु जीवन की मिट्टी के माणिक मोती बनाते हैं। वह पशु से मनुष्य बनाते हैं वैचारिक शक्ति प्रदान करते हैं। सत्य पुष्टि देते हैं इस प्रकार के सद्‌गुरु से कोई कैसे उऋण हो सकेगा। जिसने बन्दर से मनुष्य बनाये, पशु से पशुपति बनने का जादू सिखाया उस सद्‌गुरु का ऋण किस प्रकार चुकायें। किन शब्दों में उसका स्तवन करें उनका कितना वर्णन करें कितनी उनकी प्रशंसा करें इसीलिए तो मुक्त कण्ठ से कहा गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णो गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

शिव तत्व की प्राप्ति
व
निर्बीज समाधि में प्रवेश

—श्री जगदीश नारायण उपाध्याय

मेरे पूर्व के लेखों में वर्णित, वह अनुभव ज्ञान की प्रणाली, साधक की कोई अपनी बुद्धि की उपज नहीं है।

त्वम्पद (माया ब्रह्म), तत्पद (जीव ब्रह्म) के, विस्तृत एवं दुरूह वर्चस्व की भूमिका से उठी हुई, ज्ञान, भक्ति, निष्काम कर्मयोग के समन्वय पर आधारित 'यत्र प्राणोलीयते तत्र मनोलीयते' वाली, योग शास्त्र के राजयोग की यह वैज्ञानिक प्रणाली, कोई और नहीं? माया प्रतिबिम्बित तत्पद (ईश्वर या सद्गुरु) पर आधारित, योग वाशिष्ठ की भारतीय ऋषिगण को पहले से ही ज्ञात, गुरु परम्परा से चली आ रही, गुह्य ज्ञान की प्रणाली है। गीता शास्त्र इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके अलावा अविद्या प्रतिबिम्बित (ईश्वर या सद्गुरु) कूटस्थ है, यह बात भी अपनी जगह पर सही है।

अब तक साधक की लिखी हुई, सारे अनुभव ज्ञान की बातें, इन्हीं समान सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले सद्गुरु परम्परा के अनुसार आये हुये, अतीन्द्रिय ब्रह्म सत्ता, सिद्ध महापुरुषों की दी हुई, अनुभव ज्ञान की बातें हैं, जिसका मूल कारण, भौतिकवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव है। इसी भौतिकवाद के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण ही, समय और परिस्थिति को देखते हुये, यह बात उन्होंने साधक को दी है।

साधक ने तो केवल 'ईश्वर या सद्गुरु' के अविशेष गुण, अचिन्त्य शक्ति, या योग माया के कारण, अपने सूक्ष्म अन्तःकरण में भाषित प्रकाश के रूप को, पूर्व जन्मों के संस्कार वश, अपने आराध्य देव 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के प्रकाश का प्रतिबिम्बित रूप जान करके—उसके लीला रूप या (सगुण रूप) का, अपने कारण शरीर में 'क्षर ब्रह्म' के रूप में उसी प्रकार उसके विग्रह रूप या (निर्गुण रूप) का, अपने कार्य शरीर में 'अक्षर ब्रह्म' के रूप में, आत्म समर्पण

भाव से निष्ठापूर्वक आध्यात्मिक चिन्तन भर किया था। परन्तु 'सद्गुरु' या 'ईश्वर' ने, अपने अविशेष गुण योग माया से साधक के विशेष गुण—महाभाव व दृढ़ संकल्प—शक्ति को पहचान कर, उसके भीतर छिपी पूर्व जन्म की स्मृतियों को जागृत कर दिया। उसे अपने भीतर लयता की योग्यता प्रदान कर दी। तथा उसका सम्बन्ध गुरु परम्परा से चले आ रहे, समान सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले, अन्यान्य सिद्ध महापुरुषों से जोड़कर राजयोग की इस क्रियात्मक वैज्ञानिक प्रणाली की इस विधि का पुनः उसे उद्बोध कराया। जिसके कारण आगे चलकर चेतन पुरुष (द्रष्टा) तथा प्रकृति पुरुष (दृश्य) का संयोग प्राप्त हुआ। और अन्त में चलकर 'सद्गुरु' या 'क्षर' ब्रह्म की प्राप्ति हुई।

इन सारे क्रिया—कलापों का मूल कारण ब्रह्म द्वारा की गई, इस सृष्टि रचना के प्रथम काल से ही इस सूक्ष्म चैतन्य लिंग भूत कारण', शरीर में, अविशेष गुण के रूप में साधक के भीतर अव्यक्त भाव से छिपा, उसी प्रकार ब्रह्मा द्वारा रात्रिकाली, महामाया के साथ शयन के समय की गई, इस सृष्टि रचना के द्वितीय काल से ही, सूर्य द्वारा प्राप्त, इस स्थूल लिंग भूत, केवल चिह्न मात्र (महत्) कार्य शरीर में, विशेष गुण के रूप में साधक के भीतर व्यक्त भाव में, आत्मा के भीतर छिपा, अविद्या के स्थान पर विद्या गुण है। जो साधक के प्रकृति के भीतर जन्म जन्मान्तर से चला आ रहा है। उसी का परिणाम था कि गतिज ऊर्जा गुण वाले अविशेष गुण सम्पन्न 'सद्गुण' या 'ईश्वर' की, परा प्रकृति से निकली चिन्मय प्रकाश की किरणें, विशेष गुण युक्त साधक, के इस सूक्ष्म पंचभौतिक कारण शरीर से भीतर विद्यमान, अति सूक्ष्म आकाश से निकली, अति सूक्ष्म भूत तन्मात्राओं से मिलकर, चेतन पुरुष या (क्षेम पुरुष) के रूप में, लकीर की तरह ऊँचा उठकर, धनात्मक रूप से फैल गई हैं। इसी प्रकार उसी का ही परिणाम था कि दर्शनेन्द्रियों (स्नायु केन्द्र) व मस्तिष्क के भीतर छिपा, द्रव्य मान गुण सम्पन्न—विशेष गुण युक्त महाभाव वाले प्रकृति पुरुष (आत्मा) से उत्पन्न, तेजसगुण सम्पन्न दृढ़ संकल्प शक्ति वाली प्रकाश किरणें—साधक के कार्य शरीर या (क्षेत्रज्ञ शरीर) के भीतर निश्चयात्मक बुद्धि या (महत् वृत्ति) के पीछे चिह्न की भांति उठे हुये प्रकाश रहित स्फुल्लिंग से टकरा कर (जो अब अभिमान के नष्ट कर देने पर प्रकाशित हो चुकी है) ऋणात्मक लकीर जैसी आकर क्रास × की तरह मिल गई है। और अब वही प्रकाशित ऊर्जा की किरणें मिलकर फिर अणु ऊर्जा के समान ऊँचा उठकर, आकाशीय तत्त्व ईश्वर जैसा, अणुवत देश (चिदाकाश) में, 'सद्गुरु तत्त्व' या 'क्षरब्रह्म' के रूप में प्रकाशित हो गई है।

यह जो चारों अवस्थाओं का सतोगुण विज्ञान मय कोष में मिलकर गुणवत्ता के रूप में उपस्थित हुआ है, यह सब इसी राजयोग के कम्पन क्रिया से युक्त वैज्ञानिक प्रणाली के

कारण, साधक के ज्ञान की अवस्था के परे ज्ञानातीत ज्ञान की अवस्था में पहुँच जाने पर, आध्यात्मिक तत्त्वों पर आधारित व्यक्त भाव में छिपे विद्यागुण के कारण है। इन्हीं सबके कारण ही दो भिन्न–भिन्न लिंग वाले, प्रकृति वाले, सिद्धान्त वाले, तथा चेतन पुरुष व प्रकृति पुरुष मिलकर एक हो गये हैं।

वर्तमान समय में जो माया प्रतिबिम्बित तत्पद 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' अपने साक्षी की सत्यता से सत्य सा हुआ, चिदाकाश में उठकर प्रकाशित हुआ है, वह इसी माया रूपी उपाधि के कारण है। जो धर्म की हानि को देखते हुये भक्त के विशेष अनुग्रह पर निर्भर है।

शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है–जिस उपाधि के धर्म जिसमें प्रतीत हों, वह उपाधि उसका विशेषण हो जाती है। तथा जो उपाधि जिस पदार्थ में अपने धर्मों का आरोपण (स्थापन) न करके केवल उसको ज्ञात करावे, तो वह उपाधि उस पदार्थ की उपाधि कहलाती है। इस रीति से माया और अविद्या या अन्तःकरण क्रमशः ईश्वर या जीव के उपाधि हैं। ईश्वर का शुद्ध स्वरूप जो माया का अधिष्ठान ब्रह्म है, वह न तो सृष्टि करता है, न प्राणियों को कर्म फल देता है, न अवतार लेता है, और वह भक्तों पर अनुग्रह भी नहीं करता है।

पातंजल योग दर्शन ने इस आशय की पुष्टि निम्नलिखित सूत्रों में की है–

विशेषाविशेष लिंग मात्रालिंगानि गुणपर्वाणि। (2.19)

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोपि प्रत्यानुपश्यः।। (2.20)

वर्तमान युग में, भौतिकवाद के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण? परिणाम, ताप, संस्कार, गुण वृत्ति विरोध, प्रकृति जन्य दुःख से दुःखी, निश्चयात्मक बुद्धि वाला, आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी साधक, भारतीय ऋषिकुल परम्परा से आया हुआ योगी है। यह बात प्रायः सिद्ध है। महत् तत्त्व जिसके भी भीतर विद्यमान है, चाहे वह किसी वर्ग, जाति, राष्ट्र, धर्म व पेशे का साधक हो, अपने नैतिक आदर्शों का पालन करता हुआ, ज्ञान के अनुसार लौकिक, भावना के अनुसार पारलौकिक जगत को देखते हुये, अपने अन्तःकरण में, अपनी श्रद्धानुसार, भाव भक्ति से 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' को सत्य मानकर, राजयोग के इस निष्काम कर्म वाली साधना प्रणाली से, धीरे–धीरे अपने पूर्व प्रकृति को बदलकर, अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। इन सारे दुःखों से छुटकारा पा सकता है तथा आगे चलकर अपने आप को जीवन मुक्त साधक बना सकता है।

डारबिन के परिणामवाद (विकासवाद) सिद्धान्त योन–निर्वाचन (Sexual Selection) और योग्यतम की अवस्थिति (Survival of the fittest) की अपेक्षा, प्राचीन परिणामवादी सिद्धान्त देने वाले भारतीय योगी, महापुरुष पतंजलि का विकासवाद सिद्धान्त काफी श्रेष्ठ

है। महर्षि पतंजलि ने कैवल्य पाद 3 सूत्र के भीतर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है–

निमित्तम प्रयोजकं प्रकृतिनां वरणभेदस्तु तत: क्षेत्रिकवत्।

सत् और असत् कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति में जो पूर्णता पहले से ही निहित है, परिणामवाद (विकासवाद) उसी की अभिव्यक्ति मात्र है। सारी होड़ बन्द हो जाने पर भी, जब तक हम में से प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक हमारे भीतर निहित यह पूर्ण स्वभाव हमें क्रमश: उन्नति की ओर अग्रसर करता रहेगा। अत: यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि होड़ या प्रतियोगिता उन्नति के लिये आवश्यक है। पशु के भीतर मनुष्य गूढ़ भाव से निहित है। उसी प्रकार मनुष्य के भीतर भी देवता गूढ़ भाव से विद्यमान है, केवल अज्ञान का आवरण उसे प्रकाशित नहीं होने देता। जब ज्ञान इस आवरण को चीर डालता है, तब भीतर का यह देवता प्रकाशित हो जाता है। और आध्यात्मिक मनुष्य अपनी आत्मा की गहराई में सत्य की साक्षात् अनुभूति से अपने जीवन की समस्याओं का भौतिक हल पा लेता है। हमारे भीतर एक सत्ता है जो हमारे मन के बाह्य और भीतरी कार्य–कलापों की शाश्वत साक्षी है। जब तक हम शाश्वत सत्ता का साक्षात्कार अपने भीतर नहीं कर लेते तब तक अपने से बाहर उसकी एक झलक पाना भी सम्भव नहीं है।

योग शास्त्र की राजयोग प्रणाली की प्रकृति निरोध की भूमिका, इसी विकासवाद सिद्धान्त (अवरोध ज्ञान) के ऊपर निर्धारित है। इसके अलावा योग शास्त्र के दूसरे प्रणालियों की प्रकृति निरोध भूमिका, जो स्वास्थ्य की रक्षा तथा अन्यान्य दृष्टिकोण से 'विरोध ज्ञान' पर निर्धारित है। वह भी अपने स्थान पर बिल्कुल ठीक है।

भारतीय योग दर्शन (पातंजल योग दर्शन व योग वाशिष्ठ) तथा गीता शास्त्र में उद्धृत योग शास्त्र के राजयोग प्रणाली का निर्माण, योगेश्वर भगवान कृष्ण एवं भारतीय ऋषिगणों द्वारा किया गया था। इस प्रणाली का निर्माण उन्होंने सम्पूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण, मानव संरक्षण की भावना व चरित्र निर्माण की आशा से–खासकर संसारी साधकों के लिये आध्यात्म के साथ भौतिकता का सामंजस्य स्थापित करके तथा उसके भीतर उपविष्ट रूढ़िवादी–जड़वादी–साम्राज्यवादी संरचना की भूमिका से दूर रहकर, उससे ऊँची भूमिका मानव सेवा धर्म का पालन करते हुए, साधना करने के लिये ही किया था परन्तु दुःख है लोग, गीता शास्त्र व भारतीय योग दर्शन में वर्णित गुरु परम्परा से चली आयी ज्ञान–विज्ञान से युक्त, इस गुह्य ज्ञान की प्रणाली राजयोग को, इसका विशेष महत्व न समझते हुये, या इस प्रणाली का ज्ञान न होने के कारण इसे भूल गये। परन्तु आज के युग में भौतिकवाद के बढ़ते

हुये प्रभाव के कारण मानव जाति के रक्षा के लिये, तथा भौतिकता के कारण दुःखी लोगों को आध्यात्मिक सुख के लिये इस भूमिका की पुनः आवश्यकता महसूस हुई है। अतः आप सभी साधकों से इस साधक का अनुरोध है कि आप सभी साधक! सद्गुरुओं द्वारा दी गई, राजयोग के इस वैज्ञानिक प्रणाली का ज्ञान व गीता शास्त्र का यह मानवतावादी संदेश जो–बहुजन हिताय–बहुजन सुखाय, सर्व दुःख निवारणार्थ, ईश्वर पीत्यर्थ लोक संग्रह की शुभेक्षा, आत्म–कल्याण की आशा, व वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से दिया गया है उस मानवतावादी संदेश को, अन्यान्य सुदूर देशों में रहने वाले, मानव जाति तक पहुँचावें, यही साधक की शुभेक्षा है।

इस सारे साधना प्रणाली की भूमिका में साधक की अपनी बात, केवल व्यक्त भाव में छिपा, महाभाव व दृढ़ संकल्प शक्ति है। इसी दृढ़ संकल्प व महाभाव के कारण ही साधक ने अपने इस कारण शरीर व कार्य शरीर मे, परा व अपरा भक्ति द्वारा अव्यक्त भाव से, व व्यक्त भाव से, अपने आराध्य देव 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के लीला व विग्रह रूप को आत्म–समर्पण भाव से सत्य मानकर साधना की है। जिसके कारण ही उसके भीतर मानसिक चेतना जागृत हुई है, 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के सामने अन्तःकरण में आत्मसमर्पण हुआ है। इसी आत्मसमर्पण भाव के कारण ही अन्तःकरण से अव्यक्त भाव में उठे, श्रद्धा, प्रेम, निष्ठा व विरह वेदना प्रवाह को, व निश्चयात्मक बुद्धि से व्यक्त भाव में उठे मानसिक प्रतिक्रिया स्वरूप संवेदना प्रवाह को, राजयोग के 'प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम् वा प्राणस्य' जैसे वैज्ञानिक क्रिया से कम्पन प्रवाह के रूप में बदलकर और उसे 'यत्र प्राणो लीयते तत्र मनोलीयते' द्वारा प्राण व मन के साथ जोड़कर ही, साधक ने अन्नमय, प्राणमय मनोमय, कोष को शुद्ध किया है। तथा धीरे–धीरे उसे उठाते हुये ज्ञान के विविध सोपानों से गुजर कर, शब्द अर्थ ज्ञान से युक्त ज्ञानातीत ज्ञान का यह अनुभव ज्ञान तक पहुँचाने वाला सोपान प्राप्त किया है।

आध्यात्मिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि, जिसे हम सत्य समझते हैं, वह हमारे समग्र मन प्राण को अपनी ओर खींच लेता है। यदि हम संसार को ही एक मात्र सत्य मानें, तो उसका हम पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। यह मान्यता हमारे मन और इन्द्रियों को बहिर्मुखी बना देगी लेकिन यदि हम अन्तर जगत को सत्य मानें, तो अपने मन को अन्तर्मुखी करना हमारे लिये सरल हो जायेगा। अतः साधक के बढ़ने का एक कारण यह भी था, कि उसने पहले ही, आत्मसमर्पण भाव से निष्काम कर्म द्वारा, अपने 'ईश्वर' या 'सदगुरु' को अन्तर जगत में, सत्य मान लिया था, और सत्य के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा बना ली थी।

'ईश्वर' या 'सद्गुरु' व 'आत्मा' प्रत्येक प्राणियों के अन्तःकरण व विज्ञान मय कोष में

स्थित है, और उसके भीतर कम्पन गुण विद्यमान है। इसकी पुष्टि गीता शास्त्र, उपनिषदों व श्रुतियों द्वारा की गई है। उदाहरणार्थ–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्व भूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया'।।

(गीता 18/61)

बीजं मा सर्व भूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धि मतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।

(गीता 7/10)

गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वेप्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयंच आत्मापरेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति।
यथा नद्यां स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंच्छन्तिनामरूपये विहाय।
तथा विद्वान नामख्याद विमुक्तः परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्।

(मुण्डकोपनिषद 3/2/7/8)

न व्यापित्वा देशवीतो नित्यात्त्वान्नपि कालतः।
न वस्तुऽपि सर्वात्मा राजत्वं ब्रह्मणि त्रिधाः।

(पंचदशी)

''सर्वव्यापी होने से आत्मा में किसी देश से उसका अन्त नहीं है सर्वदा रहने से किसी समय में भी उसका अन्त नहीं है, और सर्वव्यापी होने से किसी वस्तु से भी उसका अन्त नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म में तीनों प्रकार की अनन्तता है।''

भाव व शब्द का जहाँ तक प्रश्न है? संसार के प्रायः सभी मनीषियों व भाषाविदों ने यह स्वीकार किया है कि एक ही वस्तु के बाहरी भाग को शब्द और अन्तर भाग को विचार या भाव कहते हैं। कोई व्यक्ति विश्लेषण के बल से विचार को शब्द से अलग नहीं कर सकता। जब से मनुष्य विद्यमान है तब से शब्द और भाषायें रही हैं। अब बात यह है कि एक भाव और एक शब्द में परस्पर क्या सम्बन्ध है। यद्यपि हम देखते हैं कि एक भाव के साथ एक शब्द का रहना अनिवार्य है, तथापि ऐसा नहीं कि एक भाव एक ही शब्द द्वारा प्रकाशित हो। बीस विभिन्न देशों में भाव एक ही होने पर भाषायें बिल्कुल भिन्न हो सकती हैं। प्रत्येक भाव को प्रकट करने के लिये एक न एक शब्द की आवश्यकता अवश्य होगी, किन्तु इस एक भाव के प्रकाशक शब्दों का एक ही उच्चारण–विशिष्ट होना कोई आवश्यक नहीं। विभिन्न देशों में भिन्न–भिन्न उच्चारण विशिष्ट शब्दों का व्यवहार होगा। व्यास भाष्य के टीकाकार वाचस्पति

मिश्र ने एक भाव और एक शब्द में परस्पर क्या, सम्बन्ध है उसकी व्याख्या इस प्रकार की है।

सर्वे एव शब्दाः सर्वाकारार्थाभिधान समर्था।

यद्यपि भाव और शब्द का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है तथापि एक शब्द और एक भाव के बीच एक नितान्त अलंघनीय सम्बन्ध ही रहे, ऐसी कोई बात नहीं। यद्यपि ये शब्द भिन्न–भिन्न होते हैं, तो भी शब्द और भाव का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतः यह बात निश्चित है कि इस शब्द को बोलने वाले ही होंगे तथा वह शब्द भी होगा और उनका परस्पर सम्बन्ध भी होगा। यदि वाच्य और वाचक के बीच प्रकृत सम्बन्ध रहे, तब यह कहा जा सकता है कि भाव और शब्द के बीच परस्पर सम्बन्ध है। यदि ऐसा न होता तो यह वाचक शब्द कभी सर्व साधारण के उपयोग में नहीं आ सकता। यदि यह वाच्य वस्तु पहले से अस्तित्व में रहे, और हम यदि पुनः पुनः परीक्षा द्वारा यह देखें कि उस वाचक शब्द ने उस वस्तु को अनेक बार सूचित किया है, तो हम निश्चित रूप से यह कह सकते है कि वाच्य और वाचक के बीच यथार्थ सम्बन्ध है। यदि वाच्यार्थ न भी रहे, तो हजारों मनुष्य उसके, वाचकों के द्वारा ही उस का ज्ञान प्राप्त करेंगे। उसी वाच्य और वाचक के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये और वाच्य पदार्थ की बात मन में लाने के लिये ही उन्होंने प्राण और मन को जोड़ने वाली राजयोग के इस 'प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम वा प्राणस्य' प्रणाली को साधक को दिया है।

इसी के कारण साधक ने श्वास–प्रश्वास से मन्त्र को देने वाले या जिनके माध्यम से उन्होंने मन्त्र की दीक्षा दी है, उस 'सद्गुरु' या 'ईश्वर' के रूप का ध्यान तथा जिन अर्थों के लिये दिया गया है उस भाव का चिन्तन अपने अन्तःकरण और निश्चयात्मक बुद्धि में साथ–साथ किया है। उसी शब्द के भाव को समझते हुये, बार–बार उच्चारण करने से है, तो शरीर के भीतर से एक प्रवाह या कम्पन उत्पन्न हुआ है। जिसने इन्द्रिय द्वार से प्राप्त विषयों के अभिघात से उत्पन्न हुई संवेदना को ले जाकर मस्तिष्क में पहुँचा दिया है। जिसके कारण ही 'सद्गुरु' या 'ईश्वर' साधक के भाव को जान सका है कि यह हमारा पूर्व जन्मों से सम्बन्धित, हमारे ऊपर आश्रित विशुद्ध भावों वाला ज्ञानी, भक्त साधक है तथा इसकी इच्छा लोक कल्याणार्थ, जो लोग भौतिकता के कारण दुःखी हैं या जो लोग मुझे भूल गये हैं उनका ध्यान इस तरफ आकर्षित करना है। इन्हीं सब कारणों से साधक को भौतिक जगत से असंग रखने तथा शुद्ध चेतनादि पदार्थों को प्रकाशित करने के लिये ही–उसे अविशेष गुण के रूप में 'अयोगाय असम्बन्धाय या माया वंचना सी अयोगमाया' की योग्यता, उसके कारण जगत में चेतन पुरुष के माध्यम से उन्होंने प्रदान की है। तथा उसी प्रकार न चाहते हुये भी, केवल

अपने भक्त को इच्छा रखने के लिये, लोक संग्रह की शुभेक्षा व अपने सुख या आनन्द की कामना से दम्भ की भूमिका से ऊँची उठी भक्त को भगवान से जोड़ने वाली, विशेष गुण युक्त 'युज्यते संश्लिष्यत इति योगा महा लक्ष्मी अथवा त्रिगुणात्मिका माया' की भूमिका जो ब्रह्मा द्वारा व्यक्त भाव में सृष्टि रचना के द्वितीय काल से सूर्य द्वारा अन्यान्य लोगों को दी गई थी, वह विद्यागुण से सम्पन्न आध्यात्मिक भूमिका, इस कार्य शरीर के विज्ञान मय कोष में प्रदान कर दी है। जिसके कारण ही साधक को आगे चलकर चारों सम्प्रज्ञात समाधियों की प्राप्ति हुई है। तथा सवितर्क समाधि में शब्द अर्थ ज्ञान का एक साथ संयोग स्थापित हुआ है।

इस योग माया की बात व शब्द, अर्थ, ज्ञान के आशय की बात, की पुष्टि श्रीमद्भागवत पुराण व गीता शास्त्र, तथा पातंजल योग दर्शन ने निम्न शब्दों से की है।

भगवानपि ता रात्रि:?
शरदोत्फुल्ल मल्लिका:।
वीक्ष्यरन्तु मनश्चक्रे
योग माया मुपाश्रित:।।

(रास पंचायायी)

दैवी ह्येषा गुणमयी
मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते
मायामेतां तरन्ति ते।।

(गीता 7/14)

शब्दार्थ प्रत्याना नितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग संयमात् सर्व–भूतरुत ज्ञानम्।

(पातंजल योग सूत्र 3/17)

योग विषय अनन्त तथा असीम है। अत: पूर्वा चार्यों ने इसकी भिन्न–भिन्न परिभाषायें की हैं। ऐसे गूढ़ तथा जटिल विषय का अनेक प्रकार से समीक्षण किया जाना एक प्रकार से इसके महत्व का सूचक है। योग शब्द प्रसंगाधीन अनेक अर्थों में करना ठीक नहीं है। कोई योग का अर्थ 'योग 'समाधि' है ऐसा कहता है तो किसी के अनुसार अष्टांगयोग द्वारा 'योगश्चित्त वृत्तिनिरोध:' यानी चित्त वृत्ति का निरोध करना ही योग है, यह बतलाया गया है। कुछ लोग योग का अर्थ 'समत्वं योग उच्यते' सहकार करना मानते हैं तो किसी के मन में 'युज्यते तस्य योग:– ' दो भावों का मिलाप ही योग है ऐसा किया गया है। लेकिन गवेषण करने पर पता चलता है कि योगाचार्य भगवान पतंजलि जी ने 'योगाश्चित वृत्ति निरोध:' यह कहकर

ही योग शब्द को अभिव्यक्त किया है। जिसका अर्थ है चित्त वृत्तियों का निरोध होना। 'चित्त वृत्तीनाम् नितरांरोधः' अर्थात् चित्त वृत्तियों का नितान्त रुक जाना योग है, सबसे उपयुक्त है। भगवान पतंजलि देव ने जहाँ पर 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' यह बात कहकर योग का लक्षण किया वहाँ पर उसके साथ ही साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा का स्थित होना स्पष्ट बतला दिया गया है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये श्री व्यासदेव जी ने बिल्कुल स्पष्ट लिखा है 'स्वरूप प्रतिष्ठा तदानी चिति शक्तिर्यया कैवल्ये' अर्थात् चिति शक्ति जैसी कैवल्य में होती है वही स्वरूप प्रतिष्ठा का सही अर्थ है। स्वरूप प्रतिष्ठा, कैवल्य की प्राप्ति सर्वथा चित्त वृत्तियों के निरोध से, सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधियों के अभ्यास द्वारा होती है। इसीलिये योग की सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात दोनों ही अवस्थाओं का नाम योग है। अतः साधक ने, पूर्व जन्मों के संस्कार वश अपने निरोध गुण के कारण, उच्चतम् सोपान वाले अन्तरंग समाधि असम्प्रज्ञात समाधि को अपने बुद्धि से मान लिया है। जिसके कारण ही सद्सद् विवेकनी बुद्धि से वह जान सका है, कि वह पुरुष प्रकृति से भिन्न है वह भूत नहीं है, मन नहीं है और प्रकृति भी नहीं है। केवल प्रकृति से ही सर्वथा परिवर्तन हो रहा है या संश्लेषण विश्लेषण हो रहा है। अब यदि हम निरन्तर अभ्यास के द्वारा विवेक लाभ करेंगे, तब अज्ञान चला जायेगा, और पुरुष अपने स्वरूप में अर्थात् सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और सर्व व्यापी रूप में प्रतिष्ठित हो जायेगा।

उसी अज्ञानता को हटाने व अन्तः प्रकृति को योग वाशिष्ठ के मतानुसार शुभेक्षा (अन्तःकरण की जागृति) विचारणा (विचार जनित ज्ञान) तनुमानसा (सहज ज्ञान) सत्त्वापत्ति (ज्ञानातीत ज्ञान) में बदलने के लिये ही साधक ने भौतिक स्तर पर स्थूल समाधि, मानसिक स्तर पर सूक्ष्म समाधि, आध्यात्मिक स्तर पर सूक्ष्मतम् समाधि का, राजयोग के इस वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा, आत्म समर्पण भावना से सतत् अभ्यास किया है। जिसके कारण ही तो उसके व्यक्तित्व का विकास हुआ है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोष की शुद्धि हुई है, और उसका अन्तर मन बदलकर दृढ़ी व संयमित हो गया है। उसी अन्तर मन के दृढ़ी व संयमित हो जाने के कारण ही उसे शब्द, अर्थ, ज्ञान से युक्त इस विवेकपूर्ण सवितर्क समाधि की साधक को प्राप्ति हुई है।

यह सब उसी राजयोग के वैज्ञानिक प्रणाली का खेल है। जिसका एक कारण संश्लेषण—विश्लेषण क्रिया से युक्त अन्तर प्रकृति को मानकर असम्प्रज्ञात योग की साधना भी है।

राजयोग साधना का मुख्य ध्येय (ऐहिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति पूर्वक ब्रह्म साक्षात्कार

या उसकी प्राप्ति) है। अतः सिद्ध होता है कि योग रूपी परीक्षा का मूल विषय अनासक्ति और फल ब्रह्म प्राप्ति है। इसी फल ब्रह्म प्राप्ति के लिये ही साधक ने गीता शास्त्र के मतानुसार कर्म कारण के रूप में 'विष्णु' या 'शिव' कामना या 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' पीत्यर्थम् वा अपने इस कारण शरीर में अव्यक्त भाव में छिपे 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के रूप को निष्काम भाव से अपने सूक्ष्म अन्तःकरण में सत्य मान लिया है। और उसे मानकर उसकी प्राप्ति के लिये आत्म–समर्पण भाव से श्रद्धा, विश्वास, पूर्वक निष्काम भाव से योग साधनादि कर्म किया है। जिसके कारणस्वरूप ही उसके भीतर से आध्यात्मिक भूख उत्पन्न हुई है। और जिसके फलस्वरूप ही वह 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' का तत्त्व के रूप में कुछ समय के लिये सत्संग लाभ प्राप्त कर सका है। उसी का परिणाम है कि, साधक इस समय दैवी शक्ति का अनुभव अपनी रग–रग में करने लगा है। वही शक्ति प्रवाह इस समय साधक के ईश्वरी शक्ति प्रवाह का माध्यम बन गई है जो शक्ति मानव जाति के कल्याण में संलग्न है। साथ ही साथ उसी गीता शास्त्र के मतानुसार, शम–कारण के रूप में सबके प्रति सौहार्द, प्रेम के लिये समतावादी दृष्टिकोण से उसने–लोक संग्रह की शुभेक्षा, आत्म कल्याण की भावना व ज्ञान यज्ञार्थ, अपने इस कार्य शरीर में व्यक्त भाव में छिपे 'निश्चयात्मक बुद्धि' या 'वृत्ति' के भीतर 'आत्मा' को अनासक्ति पूर्वक अपने अन्तः प्रकृति में स्थिति बुद्धि में निष्ठा के साथ मान लिया है। जिसके प्रतिक्रिया स्वरूप ही धीरे–धीरे उसके सूक्ष्म अहंकार का नाश हुआ है। उसी के अनुसार उसके व्यक्तित्व का विकास हुआ है। तथा कुछ अर्थों में उसने अपने दुःखों से छुटकारा प्राप्त किया है। यह उसी का परिणाम है कि अब उसे सही अर्थों में आत्म सुख का अनुभव हो रहा है। आप जानते हैं कि कर्म सदैव संसार के लिये होता है, योग सदैव अपने लिये होता है। 'योग' के लिये 'करना' नहीं होता, वह तो स्वतः सिद्ध है। अपने अपने कर्त्तव्य (स्वधर्म) का पालन करने से 'योग' सिद्ध होता है। अतः यह 'करना' भी वास्तव में न करने के लिये अर्थात् 'करना' समाप्त करने के लिये है। ध्यान में जो आरूढ़ नहीं है, ऐसे समत्व बुद्धि रूप योग में आरूढ़ होने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को अनासक्ति पूर्वक निष्काम भाव से कर्म ही उपयुक्त है।

अतः साधक ने इसी 'करता' पक्ष को समाप्त करने और योगारूढ़ होने के लिये ही 'आत्मा' व 'परमात्मा' स्वरूप 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' को इस शरीर में मानकर अनासक्ति पूर्वक निष्काम भाव से राजयोग की इस वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा योग साधन किया है। अब तक जो इस साधना प्रणाली से उपलब्धि हुई है उसमें एक कारण अनासक्ति भाव से निष्काम कर्मयोग भी रहा है। गीता शास्त्र ने साधक के इस निष्काम भाव की पुष्टि इन शब्दों में की

है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनोबन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

(गीता 6/5)

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते।।

(गीता 6/3)

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

(गीता 4/39)

अभिप्राय यह है कि योगारूढ़ता कल्याण का मुख्य हेतु है इसलिये मनुष्य को चाहिये कि अपना उद्धार अपने आप करें स्वयं को अधोगति की ओर न जाने दें? मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं ही शत्रु है। दूसरा कोई मित्र–शत्रु नहीं है।

समत्व बुद्धि रूप में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिये योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा है। ज्ञानमय प्रभु की प्राप्ति में श्रद्धा भी विशेष सहायक होती है।

इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि ज्ञान प्राप्ति के लिये साधक पूर्ण जितेन्द्रिय और जागरूक बना रहे।

आचार्य दासलाल जी महाराज के आगामी योग प्रचार कार्यक्रम

19 मई से 23 मई तक

शिव मन्दिर पानीपत कुराना में

6 जून से 10 जून तक

श्री योग सिद्ध आश्रम मण्डी हिमाचल प्रदेश में

11 जून से 12 जून तक

योग साधन आश्रम ऋषिकेश में उत्सव पर निवास।

आश्रम समाचार

श्री प्रभुजी का प्राकट्य दिवस राम नवमी योग महामेला के रूप में धूम-धाम से सम्पन्न

इस वर्ष श्री राम नवमी महोत्सव 11, 12 व 13 अप्रेल को बड़े ही धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। इसी उपलक्ष्य में श्री प्रभुजी की जीवन गाथा 'योग लीलामृत' रामायण की कथा 6 अप्रेल से 13 अप्रेल तक आयोजित की गई। कथा व्यास करौली से आये श्री पुरुषोत्तम शरण थे जिन्होंने बहुत ही मधुर वाणी में संगीतमय कथा को सुनाकर प्रभु भक्तों को भाव विभोर कर दिया। यह कथा दोपहर बाद 3 बजे से 7 बजे तक चलती थी।

दिनांक 11 व 12 अप्रेल को प्रातः आरती के पश्चात् गुरुगीता का पाठ किया गया तथा साथ ही गुरु तत्व एवं आध्यात्म पर चर्चा होती रही। व्याख्यान देने वालों में श्री सिद्ध गुफा सवाई के आचार्य डॉ. दासलाल जी महाराज, अम्बाला से पधारे डॉ. वीरेन्द्र स्वरूप जी, दिल्ली से आये देवेन्द्र ब्रह्मचारी, प्रो. मनमोहन कृष्ण त्रिखा (दिल्ली) के नाम प्रमुख हैं। सभी ने गुरुतत्व व योग तत्व पर प्रकाश डाला।

13 अप्रेल को श्री रामनवमी व प्रभु जी की 131 वीं जयन्ती में गुरु पूजन हेतु कई हजारों की संख्या में कतार बद्ध होकर गुरु पूजन करते रहे। साथ-साथ गुरु भक्ति से ओत-प्रोत भजन भी चलते रहे। दोपहर 12 बजे ब्रह्म-भोज के साथ विशाल भण्डारा चलता रहा। लगभग 14-15 हजार भक्तों ने भोजन प्रसाद ग्रहण किया। 13 को रात्रि जागरण हुआ। कीर्तन भजन चलते रहे। प्रातःकाल 4 बजे आरती के साथ ही उत्सव सम्पन्न हो गया। जाने वाले लोग प्रसाद लेकर अपने गन्तव्य की ओर चलने लगे। उत्सव आनन्दपूर्वक निर्विघ्नतया सम्पन्न हुआ।

परमेश्वर का अंश ही है

जीवात्मा

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्।

(वेदान्त दर्शन 2/3/16)

यह जीवात्मा वास्तव में सर्वथा शुद्ध परमेश्वर का अंश जन्म मरण से रहित विज्ञानस्वरूप नित्य अविनाशी है, इसमें कोई शंका नहीं है। तो भी यह अनादि परम्परागत अपने कर्मों के अनुसार प्राप्त हुए स्थावर (वृक्ष–पहाड़ आदि), जंगम (देव, मनुष्य, पक्षी आदि) शरीरों के आश्रित है, उन–उन के साथ तद्रूप हो रहा है, " मैं शरीर से सर्वथा भिन्न हूँ, इससे मेरा कोई संबंध नहीं है ", इस वास्तविक तत्व को नहीं जानता, इस कारण उन–उन शरीरों के जन्म–मरण आदि को लेकर गौणरूप से जीवात्मा का उत्पन्न होना श्रुति में कहा गया है। इसलिए कोई विरोध नहीं है। कल्प के आदि में इस जड़–चेतनात्मक अनादिसिद्ध जगत् का प्रकट हो जाना ही इस परमात्मा से इसका उत्पन्न होना है और कल्प के अन्त में उस परमेश्वर में विलीन हो जाना ही उसका लय है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं –

हे अर्जुन ! कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, यानि प्रकृति में लीन होते हैं और कल्पों के आदि में उनको मैं फिर रचता हूँ।

इसके सिवा परमब्रह्म परमात्मा किन्हीं नये जीवों को उत्पन्न करते हों– ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण– इन तीन प्रकार के शरीरों के आश्रित जीवात्मा का परमात्मा से उत्पन्न होना और उसमें विलीन होना श्रुति–स्मृतियों में जगह–जगह कहा गया है। जीवों को भगवान उनके परम्परागत संचित कर्मों के अनुसार ही अच्छी–बुरी योनियों में उत्पन्न करते हैं।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सैंवाई (मल्पाटपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

□□□□□□

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः।।

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् – भक्तिहीन साधना में संलग्नरहने वाले कुयोगी लोगों के लिए जिनकी छवि भी दूर है, जो अपनी निरुपम और निरतिशय आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा के साथ अपने ब्रह्मस्वरूप ब्रजधाम में निरन्तर विहार करते रहते हैं, उन भक्तवत्सल सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्ण को मेरा बार–बार नमस्कार है।

स्वत्वाधिकारी :– योगयोगेश्वर [illegible] महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. [illegible] शर्मा के लिए राष्ट्रीय [illegible] प्रिंटिंग प्रेस, आगरा–2 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंवाई (मल्पाटपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UP/HIN/2004/14568 सम्पादक : आचार्य प्र. (डॉ.) [illegible] शर्मा